विवेक-ज्योति
वार्षिक रु. ५० मूल्य रु. ८.००
वर्ष ४५ अंक २ फरवरी २००७
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

फरवरी २००७

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४५
अंक २

वार्षिक ५०/- एक प्रति ८/-

५ वर्षों के लिए — रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,२००/-

विदेशों में — वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन — २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

{सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से बनवायें}

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
०७७१ - २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

प्रिंट आर्डर - १२,५०० (पूछना है)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें —

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव **स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर** से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट – **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना नाम, पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नं. आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

सौर ऊर्जा

वैराग्य-शतकम्

गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता भ्रष्टा च दन्तावलि-
र्दृष्टिर्नश्यति वर्धते बधिरता वक्त्रं च लालायते ।
वाक्यं नाद्रियते च बान्धवजनो भार्या न शुश्रूषते
हा कष्टं पुरुषस्य जीर्णवयसः पुत्रोऽप्यमित्रायते ।।७३।।

अन्वय – गात्रं संकुचितं गतिः विगलिता दन्तावलिः च भ्रष्टा दृष्टि नश्यति बधिरता वर्धते वक्त्रं च लालायते बान्धव-जनः च वाक्यं न आद्रियते भार्या न शुश्रूषते हा जीर्ण-वयसः पुरषस्य कष्टम्, पुत्रः अपि अमित्रायते ।

अर्थ – अहा, मनुष्य को वृद्धावस्था में कितना कष्ट उठाना पड़ता है ! उसके शरीर पर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं, पाँव डगमगाने लगते हैं, दाँत झड़ जाते हैं, नेत्रों की ज्योति चली जाती है, कानों से ऊँचा सुनाई देता है, मुख से लार टपकने लगती है, उसकी बातों का कोई आदर नहीं करता, पत्नी सेवा नहीं करती और पुत्र भी शत्रु के समान आचरण करने लगता है ।

वर्णं सितं झटिति वीक्ष्य शिरोरुहाणां
स्थानं जरापरिभवस्य तदा पुमांसम् ।
आरोपितास्थिशतकं परिहृत्य यान्ति
चण्डालकूपमिव दूरतरं तरुण्यः ।।७४।।

अन्वय – शिरोरुहाणां सितं वर्णं वीक्ष्य तदा जरा-परिभवस्य स्थानं पुमांसम् आरोपित-अस्थि-शतकं चण्डाल-कूपम् इव परिहृत्य तरुण्यः झटिति दूर-तरं यान्ति ।।

अर्थ – जिस प्रकार लोग सैकड़ों हड्डियों से सज्जित चाण्डालों के कुएँ से दूर भागते हैं, उसी प्रकार युवतियाँ किसी व्यक्ति के सिर पर श्वेत केशराशि को देख, उसे वृद्ध समझकर उससे दूर चली जाती हैं ।

– भर्तृहरि

श्रीरामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(बागेश्री या भैरवी – झापताल)

हे प्रभो श्रीरामकृष्ण, तुम जगत् के सार हो ।
सिर्फ मेरे ही नहीं, सबके परम आधार हो ।।

फिर रहा हूँ मैं भटकता, क्लेशमय संसार में,
मोह-माया डोर से हूँ बद्ध भोग-विकार में,
तुम कृपा कर दो जरा-सा, ज्ञान का संचार हो ।।

दौड़ता है चित्त मेरा, व्यर्थ सुख की आस में,
मूढ़तावश भूल बैठा, 'रत्न' है निज पास में,
तुम विराजित हृदि कमल पर, तत्त्व अपरम्पार हो ।।

निर्दिशा भव-सिन्धु में है, नाव मेरी तिर रही,
संकटों की मेघमाला भी गगन में घिर रही,
थाम लो पतवार तुम, बेड़ा सहज ही पार हो ।।

– २ –

(पटदीप–कहरवा)

सुनो हे रामकृष्ण भगवान,
यही प्रार्थना है हम सबकी, हो यह देश महान् ।।

सदाचार फैले लोगों में
रहे न मति नश्वर भोगों में
एक बार फिर से दुनिया में, सच्चा हो इनसान ।।

जाति-वर्ग के भेद शिथिल हों
समता औ सद्भाव सबल हों,
सबमें रूप तुम्हारा देखें, करें सभी का मान ।

प्राणी ग्रस्त मोह-माया से
भीत हो रहे निज छाया से
प्रज्ञा का प्रकाश फैलाओ, दूर करो अज्ञान ।।

सेवामय हो जीवन अपना
टूटे भव का झूठा सपना
हो 'विदेह' तव पद-कमलों में, जीवन का अवसान ।।

– *विदेह*

इतिहास और प्रगति (२)

स्वामी विवेकानन्द

अद्वैत आश्रम, मायावती द्वारा प्रकाशित State Society and Socialism नामक संकलन में प्रश्नोत्तर के रूप में स्वामीजी के विचारों का संयोजन किया गया है। प्रस्तुत है उसी पुस्तक के महत्वपूर्ण अंशों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

प्रश्न – मनुष्यों को कौन-सी बाधाओं को दूर करने का प्रयास करना चाहिये?

उत्तर – सभी शास्त्रों का कथन है कि संसार में जो तीन प्रकार के दु:ख हैं, वे प्राकृतिक नहीं हैं, अत: उन्हें दूर किया जा सकता है।[६५]

(ये तीन दु:ख हैं – आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। बाह्य प्रकृति से आनेवाले बाढ़, अकाल, भूकम्प आदि से होनेवाले दु:ख आधिभौतिक कहलाते हैं। इन पर विजय प्राप्त करने के लिये विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की सहायता लेनी चाहिये। असमानता, अन्याय आदि सामाजिक बुराइयाँ आधिदैविक दुख हैं, जिन्हें दूर करने के लिये राजनीति-शास्त्र, अर्थशास्त्र, समाज-शास्त्र आदि की जरूरत पड़ती है। अपनी अनियंत्रित भावना तथा कामनाएँ आध्यात्मिक दु:खों का कारण हैं। इन्हें दूर करने के लिये साधना की आवश्यकता है। इस प्रकार स्वामीजी ने मुक्ति का एक सर्वांगीण रूप प्रदान किया है। मुक्ति से उनका तात्पर्य था पूरी स्वाधीनता।)

यूनानी लोग राजनीतिक स्वतंत्रता की खोज में थे। हिन्दुओं ने सदैव आध्यात्मिक स्वतंत्रता की खोज की है। दोनों ही एकांगी हैं। ... केवल आध्यात्मिक स्वतंत्रता की चिन्ता करना और सामाजिक स्वतंत्रता की चिन्ता न करना एक दोष है, परन्तु इसका उल्टा होना तो और भी बड़ा दोष है। आत्मा और शरीर, दोनों की स्वतंत्रता के लिये प्रयत्न किया जाना चाहिये।[६६]

आध्यात्मिक खाद्य के लिये आज सारा संसार भारत-भूमि की ओर ताक रहा है और भारत ही उसे प्रत्येक राष्ट्र को प्रदान करेगा। केवल भारत में ही मनुष्य जाति का सर्वोच्च आदर्श प्राप्य है और हमारे संस्कृत साहित्य तथा दर्शन-शास्त्रों में निहित हमारे इस आदर्श को आज कितने ही पाश्चात्य विद्वान् समझने की चेष्टा कर रहे हैं। सदियों से यही आदर्श भारत की एक विशेषता रही है।[६७]

अब प्रश्न यह है कि क्या हमें भी कुछ और सीखना है? क्या हमें भी संसार से कुछ सीखना है? शायद हमें दूसरे राष्ट्रों से भौतिक ज्ञान सीखना पड़े। कैसे संगठन बनाकर उसका संचालन किया जाय, विभिन्न शक्तियों को नियमानुसार काम में लगाकर कैसे थोड़े प्रयत्न से अधिक लाभ हो – आदि बातें अवश्य ही हमें दूसरों से सीखनी होंगी।[६८]

तुममें एक सुई तक निर्माण करने की योग्यता नहीं है और तुम लोग अँग्रेजों के गुण-दोषों की आलोचना करने को उद्यत होते हो! मूर्ख! जाओ, उनके पैर पड़ो; जीवन-संग्राम के उपयुक्त विद्या, शिल्पविज्ञान और क्रियाशीलता सीखो, तभी योग्य बनोगे और तभी तुम लोगों का सम्मान होगा।[६९]

जो समाज या राष्ट्र आध्यात्मिकता में जितना आगे बढ़ा है, वह समाज या राष्ट्र उतना ही सभ्य कहा जाता है। भाँति-भाँति के अस्त्र-शस्त्र तथा कारखानों का निर्माण करके इस जीवन के सुख-समृद्धि को बढ़ाने मात्र से कोई सभ्य नहीं कहला सकता। आज की पाश्चात्य-सभ्यता लोगों में दिन-प्रतिदिन अभाव और हाहाकार को ही बढ़ा रही है। भारत की प्राचीन सभ्यता सर्वसाधारण को आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग दिखलाकर यद्यपि उनके इस जीवन के अभावों को पूर्ण रूप से नष्ट न कर सकी, तो भी नि:सन्देह उसको बहुत कम करने में समर्थ हुई थी। इस युग में इन दोनों सभ्यताओं का संयोग कराने के लिये भगवान श्रीरामकृष्ण ने जन्म लिया है। आजकल एक ओर जैसे लोग कर्मठ बनेंगे, वैसे ही उनको गम्भीर आध्यात्मिक ज्ञान भी हासिल करना होगा।[७०]

(बेलूड़) मठ के कार्य-क्षेत्र को इस तरह विस्तार करने का विचार है कि हमारे कोष के सामर्थ्य के अनुसार, अधिकाधिक युवकों को पाश्चात्य विज्ञान और भारतीय अध्यात्म-शास्त्र – दोनों की शिक्षा दी जाय, ताकि विश्वविद्यालय की शिक्षा से होनेवाले लाभों के साथ-साथ उन्हें, अपने गुरुजनों के सम्पर्क में रहकर, एक पुरुषोचित अनुशासन की भी शिक्षा मिले।[७१]

प्रश्न – 'वर्गहीन समाज' से क्या तात्पर्य है?

उत्तर – यदि परिस्थितियों की पूर्ण एकरूपता नीतिशास्त्र का उद्देश्य हो, तो वह असम्भव प्रतीत होता है। चाहे हम कितना भी प्रयत्न करें, सब मनुष्य एक जैसे कभी नहीं हो सकते। मनुष्य जन्म से ही भिन्न-भिन्न होंगे; कुछ में अन्य की अपेक्षा अधिक सामर्थ्य होगी; कुछ में स्वाभाविक क्षमता होगी, दूसरों में नहीं; कुछ के शरीर पूर्ण विकसित होंगे और दूसरों के नहीं। हम इसे कभी रोक नहीं सकते।

परन्तु जिसकी उपलब्धि सम्भव है, वह है विशेषाधिकार का निवारण। सारे संसार के समक्ष वास्तव में यही कार्य है। प्रत्येक जाति और प्रत्येक देश के सामाजिक जीवन में यह संघर्ष होता रहा है। कठिनाई यह नहीं है कि कोई जन-समूह किसी अन्य जनसमूह से स्वाभाविक रूप से अधिक मेधावी है, परन्तु क्या जिस जनसमूह को बौद्धिक सुविधायें प्राप्त हैं, वह उन लोगों के शारीरिक सुख-भोग भी छीन ले, जिनको वे सुविधायें प्राप्त नहीं हैं? संघर्ष है उस विशेषाधिकार के उन्मूलन के लिये। यह स्वयंसिद्ध तथ्य है कि कुछ लोगों में अन्य लोगों की अपेक्षा शारीरिक बल अधिक होगा और इस प्रकार स्वाभाविक है कि वे निर्बल को दबा देंगे या परास्त कर देंगे, परन्तु कानून यह नहीं कहता कि इस बल के कारण वे जीवन के सभी प्राप्त सुखों को अपने लिये समेट लें और संघर्ष इसी के विरुद्ध रहा है। यह स्वाभाविक है कुछ लोग स्वभावत: सक्षम होने के कारण दूसरों की अपेक्षा अधिक धन संग्रह कर लें, परन्तु धन प्राप्त करने की इस सामर्थ्य के कारण वे उन लोगों पर अत्याचार और अन्धाधुन्ध व्यवहार करें, जो उतना अधिक धन संग्रह करने में समर्थ न हो, तो यह कानून का अंग नहीं है और इसके विरुद्ध संघर्ष हुआ है। अन्य के ऊपर सुविधा के उपभोग को विशेषाधिकार कहते हैं और इसका विनाश करना युग-युग से नैतिकता का उद्देश्य रहा है। यह कार्य ऐसा है, जिसकी प्रवृत्ति साम्य और एकत्व की ओर है तथा जिससे विविधता का विनाश नहीं होता।[७२]

यदि स्वभाव में समता न भी हो, तो भी सबको समान सुविधा मिलनी चाहिये। फिर भी यदि किसी को अधिक तथा किसीको कम सुविधा देनी हो, तो बलवान की अपेक्षा दुर्बल को अधिक सुविधा प्रदान करनी आवश्यक है।

दूसरे शब्दों में चाण्डाल को शिक्षा की जितनी जरूरत है, उतनी ब्राह्मण को नहीं। यदि किसी ब्राह्मण के पुत्र के लिये एक शिक्षक आवश्यक हो, तो चाण्डाल के लड़के के लिये दस शिक्षक चाहिये। कारण यह है कि जिसकी बुद्धि की स्वाभाविक प्रखरता प्रकृति के द्वारा नहीं हुई है, उसके लिये अधिक सहायता की व्यवस्था करनी होगी।[७३]

विभिन्न श्रेणियों में विभक्त होना ही समाज का स्वभाव है। पर क्या नहीं रहेगा? विशेष अधिकारों का अस्तित्व नहीं रह जायेगा। जाति-विभाग प्राकृतिक नियम है। सामाजिक जीवन में एक विशेष काम मैं कर सकता हूँ, तो दूसरा काम तुम कर सकते हो। तुम एक देश का शासन कर सकते हो तो मैं एक पुराने जूते की मरम्मत कर सकता हूँ, परन्तु इसी कारण तुम मुझसे बड़े नहीं हो सकते। क्या तुम मेरे जूते की मरम्मत कर सकते हो? मैं क्या देश का शासन कर सकता हूँ? यह कार्य-विभाजन स्वाभाविक है। मैं जूते की सिलाई करने में चतुर हूँ और तुम वेदपाठ में निपुण हो। परन्तु यह कोई कारण नहीं कि तुम इस विशेषता के लिये मेरे सिर पर पाँव रखो। तुम यदि हत्या भी करो तो तुम्हारी प्रशंसा हो और मुझे एक सेव चुराने पर भी फाँसी पर लटकना पड़े, ऐसा नहीं हो सकता। इसको समाप्त करना ही होगा।

जाति-विभाग अच्छा है। जीवन-समस्या के समाधान के लिये यही एकमात्र स्वाभाविक उपाय है। मनुष्य अलग-अलग वर्गों में विभक्त होंगे, यह अनिवार्य है। तुम जहाँ भी जाओ, जाति-विभाग से छुटकारा न मिलेगा, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इस प्रकार का विशेषाधिकार भी रहेगा। इनको जड़ से उखाड़ फेंकना होगा। यदि मछुआ को तुम वेदान्त सिखलाओगे, तो वह कहेगा – हम और तुम बराबर हैं। तुम दार्शनिक हो, मैं मछुआ; पर इससे क्या? तुम्हारे भीतर जो ईश्वर है, वही मुझमें भी है। हम यही चाहते हैं कि किसी को कोई विशेष अधिकार प्राप्त न हो और प्रत्येक मनुष्य को उन्नति के लिये समान अवसर प्राप्त हो। सब लोगों को उनके भीतर स्थित ब्रह्मतत्त्व सम्बन्धी शिक्षा दो। प्रत्येक व्यक्ति अपनी मुक्ति के लिये स्वयं चेष्टा करेगा।

उन्नति के लिये सबसे पहले स्वाधीनता की आवश्यकता है।[७४]

सन्दर्भ-सूची –

६५. विवेकानन्द साहित्य, (संस्करण १९८९) खण्ड ४, पृ. ३१६; **६६**. वही, खण्ड १, पृ. २८६; **६७**. वही, खण्ड ५, पृ. ३६; **६८**. वही, खण्ड ५, पृ. ४५; **६९**. वही, खण्ड ६, पृ. १०६; **७०**. वही, खण्ड ६, पृ. २१; **७१**. वही, खण्ड ९, पृ. ३१७; **७२**. वही, खण्ड ९, पृ. १११-१२; **७३**. वही, खण्ड ४, पृ. ३०९-१०; **७४**. वही, खण्ड ५, पृ. १४०-४१

❖ (क्रमशः) ❖

श्रीराम-वाल्मीकि-संवाद (११/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा १९९६-९७ में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोहों के समय पण्डितजी ने उपरोक्त विषय पर जो प्रवचन दिये थे, यह उसी का अनुलेख है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

श्रीराम कैसे सगुण होते हुए अगुण भी हैं? सत्य को जान लेनेवाला समझ जाता है कि संसार का कोई व्यक्ति यदि गुणवान है, तो भी उसका वह गुण सीमित है। अर्थात् किसी काल में है और किसी काल में मिट जायेगा। पर जो सगुण प्रतीत होते हुए भी स्वयं में अगुण है, उसका गुण चिरन्तन है। इसका सबसे बड़ा दृष्टान्त है – परशुरामजी और भगवान श्रीराम का संवाद। उस संवाद को बहुधा हास्य और विनोद की दृष्टि से तो पढ़ा जाता है, परन्तु यदि आप वेदान्त और सगुण-निर्गुण का तत्त्व जानना चाहें, तो उसमें आपके समक्ष वह रहस्य भी प्रगट हो जाता है।

श्रीराम भी अवतार हैं और परशुरामजी भी। अभी हमारे विद्वान् वक्ता ने स्मरण दिलाया कि क्या परशुरामजी रावण का वध नहीं कर सकते थे? जब वे सहस्त्रार्जुन का वध कर सकते थे, तो रावण का वध करने में उन्हें क्या समस्या थी? तो परशुरामजी इतने शक्तिसम्पन्न, सक्षम, ईश्वर के अवतार, और दूसरी ओर श्रीराम – दोनों रामों के बीच शुरू में एक विवाद दिखाई पड़ा और अन्त में उसका समाधान हुआ।

समस्या यह है कि कई बातें लोगों के मन-मस्तिष्क में छाई रहती हैं और वे हर चीज उसी दृष्टि से देखने के आदी हैं। दिल्ली में परशुरामजी पर चर्चा हुई, तो बाद में एक सज्जन नाराजगी से तमतमाते हुए आए, बड़े विद्वान् ब्राह्मण थे। बोले – ब्राह्मण होकर आप परशुरामजी की आलोचना करते हैं? मैंने कहा – कैसे कर सकता हूँ, परशुरामजी तो हमारे आराध्य हैं। लेकिन आलोचना उनकी समस्या नहीं थी, उनकी समस्या तो थी कि वे ब्राह्मण हैं या क्षत्रिय? अब ईश्वर के विषय में भी यदि जाति के आधार पर विचार होने लगे कि वह हमारी जाति का है या नहीं, तब तो वह ईश्वर समस्या ही पैदा करेगा। सूत्र वही है – परशुरामजी सीमित इसलिए हो गये कि वे सगुण बन गये। और श्रीराम की महानता यह है कि सगुण दिखाई देने पर भी वे अगुण ही बने रहे।

यही उनकी असीमता है। ईश्वर के बारे में कहा जाता है कि वे अनीह, अरूप और अनाम हैं। परन्तु परशुरामजी की सारी बातों में आपको एक सूत्र मिलेगा। एक तो उन्हें अपने गुणों का स्मरण बहुत है – मैं क्या-क्या कर चुका हूँ। और श्रीराम से वार्तालाप करते हुए वे इस बात पर बहुत बल देते हैं। ईश्वर का वर्णन करते हुए कहते हैं कि उसका न नाम है, न रूप है, न इच्छा है और वह अज है; परन्तु श्रीराम से बात करते हुए परशुरामजी चुनौती भरे शब्दों कहते हैं – "जानते हो मैं कौन हूँ? मैं राम हूँ और बाल-ब्रह्मचारी भी हूँ।" यह श्रीराम पर व्यंग था – "तुम धनुष तोड़कर विवाह करने आए हो। यदि मैं विवाह करना चाहता, तो दुनिया भर की असंख्य राजकुमारियाँ मेरा वरण करतीं, पर मैंने ब्रह्मचर्य के कारण ऐसा नहीं किया। तुम गृहस्थ हो और मैं बाल-ब्रह्मचारी। साथ ही मैं बड़ा क्रोधी भी हूँ, अत: मुझसे बोलते समय तुम्हें बहुत सावधान रहने की जरूरत है। यह लड़का तो बड़ा ढीठ है। इसे बताओ और तुम भी समझ लो। एक बात और स्पष्ट कर दूँ – तुमने क्षत्रिय जाति में जन्म लिया है और सारा संसार जानता है कि मैं क्षत्रिय कुल का द्रोही हूँ।"

बाल ब्रह्मचारी अति कोही।
बिस्व बिदित छत्रिय कुल द्रोही।। १/२७२/६

इसका अर्थ यह हुआ कि ईश्वर की जाति बन गई। उस जाति के प्रति महत्त्व-बुद्धि है। अन्य जाति को दण्ड देने की वृत्ति है और अपने बाल-ब्रह्मचारी होने का गर्व है। इसके साथ-साथ मानो उनकी चुनौती भी थी कि मैंने सारे क्षत्रियों को हराया। अब या तो तुम युद्ध करके मुझे हरा दो और नहीं तो एक उपाय और है। क्या? आज से तुम्हारा यह राम-नाम नहीं रहेगा। यह 'राम' नाम केवल मेरा होगा।

करु परितोषु मोर संग्रामा।
नाहिं त छाड़ कहाउब रामा।। १/२८१/२

अनाम ब्रह्म की अपने नाम से इतनी आसक्ति हो गई कि वह चाहता है कि यह नाम दूसरों का न रहे, केवल मेरा रहे। ब्रह्म तो जाति-पाति, जड़-चेतन आदि भेदों से निरपेक्ष सभी प्राणियों में निवास करता है, पर वही ब्रह्म आज कहता है – मैं ब्राह्मण हूँ, मैं ब्रह्मचारी हूँ, क्षत्रिय-कुल का द्रोही हूँ। और कहता है कि तुम अपना यह 'राम' नाम छोड़ दो।

परशुरामजी तो ईश्वर के अंश हैं ही, हम और आप भी ईश्वर के ही अंश हैं। भावनात्मक दृष्टि से वे महान् अंश हैं, हम लोग अल्प अंश हैं, यद्यपि अंश में अल्पत्व नहीं होता, पर हमारी-आपकी समस्या भी यही है। हममें भी अपने नाम के प्रति बड़ी महत्त्व-बुद्धि है, हमें भी अपनी जाति और अपनी

विशेषताओं पर बड़ा गर्व है। गुणों के साथ यही सबसे बड़ी समस्या है। संस्कृत में व्यक्ति के चरित्र की विशेषता को गुण कहते हैं और रस्सी को भी गुण कहते हैं। जहाँ गुण है, वहाँ उसके साथ गुणाभिमान भी है; और जहाँ गुणाभिमान है, वहीं पर व्यक्ति ने मानो स्वयं को अहंकार तथा ममता के बन्धन से बाँध लिया है – मैं यह हूँ और यह मेरा है। और यही संसार के सारे झगड़ों की जड़ है।

मैं अरु मोर तोर तैं माया ।
जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया ।। ३/१५/२

मैं और मेरा। परशुरामजी महाराज ईश्वर का महान् अंश हैं, तथापि यहाँ लीला में दिखाई देता है कि उनको अपने गुणों पर गर्व है, अपने त्याग-वैराग्य पर गर्व है और साथ ही इस गर्व के कारण वे श्रीराम को हीन दृष्टि से देखते हैं – तुम राजकुमार, अयोध्या के सिंहासन के अधिकारी, मैंने सारे राज्यों को जीतकर भी कभी राज-सिंहासन पर बैठने की इच्छा नहीं की। यह सारा संवाद मानो इस सत्य को बताने के लिए है कि एकमात्र श्रीराम के गुण ही पूर्ण और निर्मल हैं। और लक्ष्मणजी ने परशुरामजी को इसी सत्य की सूत्र रूप में याद दिलाने की चेष्टा की। परशुरामजी जब जनकजी से पूछते हैं – अरे मूर्ख जनक, धनुष किसने तोड़ा?

अब आप ध्यान से देखें, तो यह धनुष श्रीराम के चरित्र में और रामायण के सारे प्रसंगों में एक विशेष संकेत से भरा हुआ है। धनुष का चित्र आप देखते होंगे, बाजार में खिलौने वाला जो धनुष मिलता है, उसके दो भाग होते हैं। वह चाहे लकड़ी का हो, बाँस का हो या किसी धातु का बना हुआ हो, उसके दोनों किनारों को जोड़ने के लिए एक रस्सी से बाँध दिया जाता है। उस रस्सी को प्रत्यंचा कहते हैं और उसी को गुण भी कहते हैं। रस्सी ही गुण है। इस संकेत के तात्पर्य पर आप गहराई से विचार कीजिए।

धनुष का क्या उपयोग है? इससे लक्ष्य-वेध किया जाता है। जब लक्ष्य-वेध के लिये बाण को धनुष पर रखा जायेगा, तो बाण बिना डोरी के तो चलेगा नहीं। धनुष चाहे कितना भी अच्छा हो, पर डोरी चढ़ाए बिना बाण नहीं चलेगा। डोरी अर्थात् प्रत्यंचा। डोरी अर्थात् गुण। विश्वामित्रजी श्रीराम से आग्रह करते हैं कि तुम अपने गुण-सन्धान के द्वारा अवगुणों का विनाश करो। विश्वामित्रजी जब श्रीराम और लक्ष्मण को लेकर जा रहे हैं, तो ताड़का सामने आ गई। यह ताड़का ही वस्तुत: अविद्या या द्वैत का रूप है। महर्षि ने जब उसे देखा, तो श्रीराम से कहा – "यह राक्षसी है, यह मुनियों को खा जानेवाली है, इसने न जाने कितने यज्ञ नष्ट किये हैं। इसका वध कर डालो।" ठीक है। अब बाण-सन्धान के लिए धनुष की डोरी को बाँधना पड़ेगा। प्रभु ने धनुष की प्रत्यंचा चढ़ायी, धनुष को बाँधा और उस पर बाण चढ़ाया। इसके बाद एक ऐसा बाण चलाया, जिससे ताड़का की मृत्यु हो गई।

मृत्यु तो हो गयी, पर आप जरा दूसरे संकेत पर ध्यान दीजिए। दो योद्धाओं में युद्ध हो और एक मारा जाय, तो हम कहेंगे कि एक की वीरता के सामने दूसरे की वीरता फीकी पड़ गई। एक वीर ने दूसरे वीर को हरा दिया। गुण के द्वारा बाण चलाकर सामनेवाले को हरा देनेवाले, वध कर देनेवाले तो अनेक योद्धा हुए, तो श्रीराम ने बाण चलाकर ताड़का का वध कर दिया, इसमें उनकी विशेषता ही क्या है? गोस्वामी जी बोले – उन्होंने ताड़का को स्वयं में लीन कर लिया।

एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा
दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा ।। १/२०९/६

यहाँ सूत्र है – द्वैत का विनाश। बुरा कहकर मार डालना – यह तो कोई भी कर सकता है, पर भगवान ताड़का को अपने में विलीन कर लेते हैं। गुण की सच्ची सार्थकता तब है, जब द्वैतबुद्धि के स्थान पर अद्वैत का उदय हो जाय, ताड़का भी भगवान से भिन्न नहीं है। इसलिये राम के गुण की प्रत्यंचा का ताड़का के वध के रूप में प्रयोग हुआ।

विश्वामित्र ब्रह्मर्षि हैं। उन्होंने श्रीराम के इस महान् स्वरूप को देखा कि वे केवल शत्रुता की भावना से या दण्ड की भावना से किसी का वध नहीं करते; बल्कि श्रीराम को जब लगा कि यह अपने को मुझसे अलग मानने के कारण ही, द्वैत के कारण ही क्रोध में भरकर आई है। यदि मैं इसको स्वयं में मिला लूँ, तो द्वैत मिट जायेगा। जब सब एक हो जायेगा, तो एक में किसी को स्वयं पर क्रोध नहीं आता। भगवान ने ताड़का का वध नहीं किया, मानो उसकी द्वैत और क्रोध की वृत्ति को मिटा दिया। विश्वामित्रजी समझ गये कि ये सगुण होते हुये भी अगुणत्व की ओर ले जाते हैं। सगुणत्व में द्वैत अपेक्षित होगा, पर इन्होंने तो स्वयं को अगुणत्व में विलीन कर लिया, अत: ये ईश्वर हैं। तब उन्होंने श्रीराम से कहा – मैं तुम्हें कुछ विद्या देना चाहता हूँ –

तब रिषि निज नाथहि जियँ चीन्ही ।
बिद्यानिधि कहुँ बिद्या दीन्ही ।। १/२०९/७

आश्चर्य हुआ। श्रीराम को ईश्वर जानकर भी विद्या दे रहे हैं। नदी जब समुद्र के पास जाती है, तो क्या कहती है कि "तुम्हें पानी की जरूरत है, अत: मैं जल लेकर आई हूँ?" वह तो कहेगी – "मुझमें जल तो है, पर मेरा जल अधूरा है। मैं तुमसे मिलकर इस अपूर्णता से मुक्त हो जाऊँगी।"

सरिता जल जलनिधि महुँ जाई ।
होइ अचल जिमि जिव हरि पाई ।। ४/१४/८

भगवान का यही अगुण तत्त्व है, गुण का प्रयोग करते हुए भी उसके पीछे वह वृत्ति नहीं है, जो गुणवानों में दीख पड़ती है। विश्वामित्रजी बोले – ये ईश्वर हैं और यह हमारी विद्या इनमें समाकर धन्य हो जायेगी।

इसके बाद महर्षि प्रभु को साथ लेकर जनकपुर पधारते हैं, जहाँ महान् तत्वज्ञ जनकजी रहते हैं। ज्ञानी जनकजी एक नई प्रतिज्ञा कर बैठे – मेरे पास शंकरजी का एक धनुष है और जो कोई इसे तोड़ देगा, उसी के कण्ठ में मेरी कन्या जयमाला पहनायेगी। फिर वही बात ! यहाँ अधिक विस्तार में हम नहीं जायेंगे। श्रीराम द्वारा धनुष टूटा। अन्य राजा नहीं तोड़ सके। क्यों नहीं तोड़ सके? इसका कारण यह है कि उसको तोड़ने के रहस्य, उसको तोड़ने की पद्धति का ज्ञान उन्हें नहीं था। वे अपने बल के द्वारा, सामर्थ्य के द्वारा धनुष को तोड़ना चाहते थे और सामर्थ्य से धनुष टूट नहीं सकता। और जब श्रीराम के द्वारा धनुष टूटा, तब क्या हुआ? परशुरामजी नाराज हो गये। उन्होंने जनकजी को मूर्ख कहा और मानो उन्हें चुनौती देते हुए बोले – ''अरे, योग्यता की परीक्षा के लिए धनुष चलवाया जाता है या तुड़वाया जाता है? विश्वामित्र ने चलवाया, ठीक किया। तुम बड़े ज्ञानी बनते हो। तुमने कहा कि जो धनुष तोड़ देगा... । विश्व के इतिहास में कहीं तुमने ऐसा सुना है। योग्यता प्रमाणित करने के लिये क्या किसी ने धनुष तोड़ा है?'' बात तर्कसंगत थी –

कहु जड़ जनक धनुष कै तोरा। १/२७०/३

लेकिन जनक का तात्पर्य और अधिक गहरा था। उनका तात्पर्य यह था कि धनुष के द्वारा बाण चलाना, गुण का आश्रय लेकर अवगुण को मिटा देना – यह धनुष का एक लक्ष्य तो है, पर धनुष का लक्ष्य इससे आगे भी है।

परशुरामजी द्वारा मूर्ख कहे जाने पर जनकजी उनके भय से बोल तो नहीं सके, पर मन-ही-मन बोले – महाराज, आप कहते हैं कि धनुष को तुड़वाया क्यों, पर मैं क्या करता? शंकरजी ने यदि धनुष के साथ बाण भी दिया होता, तब तो चलवा कर देखता ! बाण दिया नहीं, केवल धनुष दिया; तो अब इसे तोड़ने के सिवा उसका और क्या उपयोग है?

बहुत बड़ी बात है। लक्ष्य-वेध के लिए बाण की जरूरत है। जिसके जीवन में लक्ष्य और सामर्थ्य हो, वह लक्ष्य-वेध करे। परन्तु जिसके जीवन में कोई लक्ष्य ही न बचा हो, कोई आकांक्षा ही न हो, कुछ पाना या दिखाना ही न हो, 'अकर्तृत्व' की स्थिति आ चुकी हो, वह क्या करे? शंकरजी ने भी उस धनुष पर बाण चढ़ाकर त्रिपुरासुर का वध किया था। लक्ष्य पूरा हो जाने के बाद, लक्ष्य-वेध के बाद धनुष का, कर्तृत्व का, उस व्यष्टि-अभिमान का विसर्जन ही श्रेष्ठता का चिह्न है। अत: इन महान् ज्ञानी के द्वारा भगवान राम की यह परीक्षा सम्पन्न हुई। पर यहाँ भी ध्यान रहे – भगवान ने धनुष को तो तोड़ा, पर डोरी नहीं तोड़ी। बड़ी विचित्र बात है ! जब धनुष टूट गया, तो डोरी एक ही झटके में टूट जाती। पर भगवान बताना चाहते थे – यह न समझ लेना कि जिस व्यक्ति ने अपने जीवन में पूर्णता प्राप्त कर ली है, उसके जीवन में कोई व्यवहार नहीं दिखाई देगा। **व्यवहार तो बना रहेगा, गुण की डोरी बनी रहेगी, पर अहंकार का धनुष नहीं होगा।** गुण तो दिखाई देगा, पर गुणवान – गुणाभिमान नहीं रहेगा। डोरी ज्यों-की-त्यों है, पर जिस पर डोरी चढ़ाई जाती है, वह धनुष-रूपी 'अहम्' नहीं है। संसार के सभी गुणवानों के जीवन में अहम् और गुण का ही संयोग दिखाई देता है। वे लोग अहं के धनुष पर अपने गुण का बाण चलाकर अपने लक्ष्य-वेध का परिचय देते हैं।

इसके बाद भगवान श्रीराम के सामने ईश्वर का वह रूप आता है, जो अगुण होते हुए भी अपने सगुणता का आग्रही है। जिसने ब्राह्मण होने का, वीर होने का, उन्नीस बार पृथ्वी के क्षत्रियों को परास्त करने का गुणाभिमान पाल लिया है। जीवों के आचार्य लक्ष्मणजी परशुरामजी से पूछते हैं – महाराज, धनुष टूटने पर इतने रुष्ट क्यों हो रहे हैं? – क्यों न रुष्ट हों? एक मीठा प्रश्न और करते हैं – ''आपके जीवन में अब भी दु:ख बना हुआ है? ब्रह्मचारी आप हैं, त्यागी आप हैं, महापुरुष आप हैं और इतना होते हुई भी आपमें क्रोध बना हुआ है, इतना होते हुए भी आप दुखी हैं।'' फिर मधुर व्यंग्य भरे स्वर में पूछते हैं – महाराज, लड़कपन में तो हम खेल-खेल में बहुत-सी धनुहियाँ तोड़ा करते थे, तब तो आप नहीं आए और आज आकर क्रोध दिखा रहे हैं –

बहु धनुहीं तोरीं लरिकाईं।
कबहुँ न असि रिस कीन्हि गोसाईं ।। १/२७१/७

परशुरामजी ने कहा – तो धनुही और शंकर का धनुष क्या बराबर हैं? लक्ष्मणजी बोले – महाराज, दुख धनुष और धनुही में नहीं है। परशुरामजी – तो दुख किसमें है? बोले – आपके सारे दुख का कारण है आपकी ममता। आपने विवाह भले ही नहीं किया, संसार तथा परिवार से ममता नहीं जोड़ी, पर धनुष से तो आपने ममता जोड़ ही ली। आपकी ममता गई कहाँ? व्यक्ति की ममता महल में हो या कुटिया में हो, परन्तु ममता तो ममता ही है।

एहि धनु पर ममता केहि हेतू। १/२७१/८

लक्ष्मणजी बोले – ''धनुष तो शंकरजी का था और यदि वे मानते कि मेरा धनुष किसी ने तोड़ दिया, तो उन्हें कितना क्रोध आता ! धनुष टूटने का समाचार मिलने के बाद क्या आप उनके पास गये थे कि आपका धनुष किसी राजकुमार ने तोड़ दिया?'' – नहीं, मैं तो नहीं गया था। बोले – आप देखते कि वे तो परम प्रसन्न हैं। धनुष टूटने से सबसे अधिक प्रसन्नता शंकरजी को है और दुखी आप हैं। क्योंकि उन्होंने ममता छोड़ दी और उनकी छोड़ी हुई चीज से आपने ममता जोड़ ली। यही आपके दुख का कारण है। अहं और ममता ही सारे दुख का कारण है। बड़े-से-बड़े गुणवान व्यक्ति के लिये भी स्वयं को मैं और मेरेपन से मुक्त कर पाना बड़ा

कठिन है। परशुरामजी कहते हैं कि मैं क्षत्रियों का विरोधी हूँ, पर भगवान राम ने जब कहा – महाराज, आप तो ब्राह्मण हैं, पूज्य हैं, वन्दनीय हैं; तो नाराज हो गये। बोले – तू ब्राह्मण कहकर मेरा अपमान कर रहा है। जहाँ अभिमान होगा, वहाँ अपमान की अनुभूति बड़ी जल्दी होती है। – आप ब्राह्मण हैं और आपको ब्राह्मण कहा, तो इसमें अपमान की क्या बात है? बोले – संसार में लाखों ब्राह्मण हैं और मुझे भी ब्राह्मण कह दिया, तो क्या मैं उन्हीं में से कोई एक हूँ? अभिमान कहता है – मैं औरों के बराबर नहीं हूँ।

बार-बार मुनि बिप्र बर कहा राम सन राम।
बोले भृगुपति सरुष हसि तहूँ बंधु सम बाम ।। १/२८२

और तब बताया – मुझे कर्मकाण्ड और यज्ञ करानेवाला निपट ब्राह्मण समझ रहा है ! मैं बताता हूँ। भाषण का प्रारम्भ कहाँ से हुआ? 'मैं' से – मैं बताता हूँ कि मैं कैसा ब्राह्मण हूँ, मेरा यह अग्निकुण्ड, इसमें साधारण अग्नि नहीं है। मैं जो आहुति देता हूँ, वह साधारण वस्तुओं की नहीं होती। मेरा क्रोध ही मेरा अग्निकुण्ड है और मेरे अस्त्र-शस्त्र ही आहुति देने के लिए श्रुवा के समान है। राजाओं के सिरों को काट-काटकर मैंने जो महान् यज्ञ किया, उसे तुम जानते नहीं !

निपटहिं द्विज कर जानहि मोही।
मैं जस बिप्र सुनावउँ तोही ।।
चाप श्रुवा सर आहुति जानू। ...
मैं एहि परसु काटि बलि दीन्हे। ...
मोर प्रभाउ बिदित नहिं तोरे।
बोलसि निदरि बिप्र के भोरे ।। १/२८३/१-५

फिर बोले – मेरा प्रभाव तुम्हें ज्ञात नहीं है। प्रारम्भ हुआ 'मैं' से और समाप्त हुआ 'मेरा' से। बस यही 'मैं' और 'मेरा' वह बन्धन है, जिसमें इतना बड़ा ईश्वर का अंश भी बँधा हुआ है। और अन्त में सारा खेल कहाँ समाप्त होता है?

जब परशुरामजी बोले कि तुम अपना राम नाम छोड़ दो, तो भगवान राम ने जो व्याख्या किया, वह सगुण-अगुण की व्याख्या थी। वशिष्ठजी से जब दशरथजी ने कहा – इस बालक का नाम रखिए। उन्होंने कहा – मैं क्या नाम रखूँ, जिसने जो चाहा, वही नाम उसे दे दिया और उसने स्वीकार कर लिया, पर सारे नामों को स्वीकार करते हुए भी वह नामों से परे हैं। भगवान श्रीराम बोले – महाराज, झगड़ा यदि नाम का हो, तो आप मुझसे बहुत बड़े हैं ही। – क्यों? बोले – इसलिए बड़े हैं कि मेरा तो मात्र दो अक्षरों का राम नाम है और परशुराम? इसलिये आप तो बहुत बड़े हैं।

राम मात्र लघु नाम हमारा।
परसु सहित बड़ नाम तोहारा ।। १/२८२/६

इस मधुर बात में कितना बड़ा संकेत था, परशुरामजी का इस ओर ध्यान बाद में गया। – महाराज, आप ईश्वर के अवतार होते हुए भी नाम में इतने आसक्त हो गये। आपको लगने लगा कि मेरे नामवाला कोई दूसरा न हो जाय। ईश्वर तो एक ही है, अद्वितीय है। फिर बोले – आप तो कह रहे हैं कि आप ब्राह्मण हैं और शास्त्रों में लिखा है कि ब्राह्मण में नौ गुण होते हैं। तो आपमें भी क्या नौ गुण हैं?

देव एकु गुणु धनुष हमारें।
नव गुन परम पुनीत तुम्हारे ।। १/२८२/७

परशुरामजी बोले – "तुम भी तो क्षत्रिय हो। शास्त्रों में क्षत्रियों के भी गुण बताए हैं।" श्रीराम बोले – "महाराज, मुझमें एक भी गुण नहीं है।" प्रभु का वाक्य बड़ा दार्शनिक था। सगुण ने कहा – "मैं अगुण हूँ।" – "यदि तुम अगुण हो, तो तुमसे कोई क्रिया होगी क्या? बिना गुण के कोई कार्य होगा क्या? व्यवहार कैसे चला रहे हो?" उन्होंने धनुष की ओर संकेत किया – "देखते हैं न, धनुष में एक डोरी बँधी है, यह एक गुण है, मुझमें कोई गुण नहीं है।"

कितनी बड़ी बात कह दी ! धनुष पर जो डोरी रहती है, उसे हमेशा चढ़ाकर नहीं रखते, जब बाण चलाना हुआ, तो चढ़ा दिया और लक्ष्य पूरा हुआ, तो डोरी उतार दी। इसमें बहुत बड़ा संकेत था। – आप में नौ गुण हैं, पर इस अगुण ब्रह्म में एक भी गुण नहीं है। यदि यह सगुण के रूप में व्यवहार करता दिखाई दे रहा है, तो आवश्यकता होने पर वह गुण चढ़ा लेता है और आवश्यकता पूरी होने पर उतार देता है। पर फरसा तो केवल चढ़ा ही रहता है, उतरना नहीं जानता। महाराज, आपका संकट यही है, अगुण होते हुए भी आप गुणवान हो गये हैं। आपने गुणाभिमान पाल लिया है, ब्राह्मण बन गये हैं। गोस्वामीजी कहते हैं – श्रीराम का वाक्य सुनने में जितना मधुर था, उतना ही दार्शनिक भी था।

परशुरामजी विचार करने लगे – इस किशोर ने जो वाक्य कहे, उनका क्या सचमुच वही अर्थ है, जो प्रतीत हो रहा है – सुनने में जितना मीठा, भीतर से उतना ही रहस्यमय –

सुनि मृदु गूढ़ बचन रघुपति के। १/२८४/६

और सम्वाद का अन्त कैसे हुआ? उसी गुण से। गुण का ही खेल चल रहा है। परशुरामजी बोले – मुझे तो लगता है कि वह समग्र अवतार आ गया है, तो मेरे पास भी एक धनुष है। तुमने शंकरजी का धनुष तोड़कर दिखाया। मेरे पास विष्णु का धनुष है। यदि तुम इसकी प्रत्यंचा को, इसके गुण को खींचकर चढ़ा दोगे, तो मैं समझ लूँगा कि वह अवतार आ गया है और अब मेरा कार्य समाप्त हो गया है –

राम रमापति कर धनु लेहू। १/२८४/७

बहुत बड़ा सूत्र था। खैचहु – इसे खींचिये। धनुष जब खींचा जायेगा, तो रस्सी पकड़कर ही तो खींचा जायेगा और रस्सी गुण है। वे कहते हैं – खींचकर दिखाइये। श्रीराम

चाहते तो धनुष हाथ में लेकर उसकी डोरी को चढ़ाकर दिखा देते। पर प्रभु ने तो हाथ भी नहीं बढ़ाया। सगुण अगुण में ही रहा। भगवान राम मन-ही-मन हँसे। यदि कोई व्यक्ति गुण को खींच भी ले, तो कितनी देर तक खींचे रहेगा। आप जरा किसी वस्तु को खींचिए, हाथ में शक्ति है तो खींचे रहिए, पर थोड़ी देर बाद जब मुट्ठी ढ़ीली पड़ेगी तो आपके हाथ से वह वस्तु चली जायेगी। श्रीराम बताना चाहते थे कि यदि गुण को बलात् स्वयं में बनाए रखने का प्रयास होगा, तो वह क्षुद्रता और सीमाओं का संकेत होगा। श्रीराम शान्त भाव से खड़े हैं। धनुष चला गया और चढ़ गया।

देत चापु आपुहिं चलि गयऊ। १/२८४/२८

श्रीराम सगुण होते हुए भी अपने अगुणत्व में स्थित हैं। वे गुण को अपनी ओर नहीं खींचते, वह स्वयं खिंचा चला आता है। श्रीमद्भागवत में भगवान से पूछा गया – आप सगुण हैं या निर्गुण? भगवान ने कहा – मैं अगुण हूँ। – पर सारे भक्त तो कहते हैं कि आप सगुण हैं। – वे गुण मेरे थोड़े ही हैं, मैं तो अगुण हूँ। और मेरे अगुण होने के साथ-साथ भक्त हैं, गुणवान। ये सारे भक्त अपना गुण मेरे साथ जोड़कर मुझे सगुण बना देते हैं। मैं तो उनका बनाया हुआ सगुण हूँ। स्वयं अपने आप में सगुण नहीं हूँ। सब कुछ कर देता हूँ, सब कुछ हो जाता है, पर सब कुछ करते हुए भी मैं कुछ भी नहीं करता। उनका स्वयं में गुणाभिमान नहीं है।

निर्गुणं मां गुणाः सर्वे भजन्ति निरपेक्षतः।

परशुरामजी ने जो स्तुति की, उसका आनन्द क्या है? उसमें उन्होंने श्रीराम के लिए नौ बार 'जय' शब्द का प्रयोग किया। और इस प्रकार जब वे 'जय-जय' कहते हुए जाने लगे, तो वे हारकर नहीं गये। दूसरा हो, तो अपमानित बोध करे, हारा हुआ अनुभव करे। परन्तु परशुरामजी प्रसन्न कैसे हो रहे हैं? इतने आनन्द में कैसे चले जा रहे हैं?

कहि जय जय जय रघुकुल केतू।
भृगपति गयेउ बनहि तप हेतू ।। १/२८५/७

श्रीराम ने कहा था – महाराज, आपमें तो नौ गुण हैं, मुझमें कोई गुण नहीं है। परशुरामजी ने नौ बार 'जय' शब्द का प्रयोग करके कहा कि नौ गुण हम आपको भेंट करते हैं। मैं तो अगुण होकर जा रहा हूँ। अगुण हुए और आनन्द में डूब गये। अगुणत्व ही आनन्द का एक दिव्य रूप है। जो सगुण बनकर गुणवान बना, वह तो बेचारा बँधा हुआ, बड़ा कष्ट पाता है। हमारे प्रभु श्रीराम सगुण होते हुए भी निरन्तर अपने आप में अगुण हैं। भक्त उनके गुणानुवाद गाते हैं, निरन्तर उनके गुणों की सराहना करते हैं।

इधर गोस्वामीजी बड़े चतुर निकले, उन्होंने भगवान से कहा – महाराज, बहुत बढ़िया हमारा आपका साथ रहेगा। – क्यों? बोले – "आप भी अगुण, मैं भी अगुण, आप गुणों से परे और मुझमें कुछ गुण है ही नहीं। यदि आप हमें अपने आप में विलीन कर लें, तो कैसा रहेगा!"

यदि मानसरोवर हंस से कहे कि हम तो सूखनेवाले हैं तुम अन्यत्र चले जाओ, तो हंस भी तो यही कहेगा! वह क्या कभी तुच्छ सरोवरों का आश्रय लेगा? मोती को छोड़कर क्या तालाबों में होनेवाले घोंघी को चुगेगा –

घोंघिन्ह में बसि कैन मिलै सुख
जो मुकुताहल चोंच चलैया।
तू महराज सरोवर हो हम
हंस हमेस यहाँ के बसैया।
काल कराल परै कितनों पै
मराल न ताकै तुच्छ तलैया।

गोस्वामीजी ने अपने में अभाव पाया और फिर श्रीराम के गुणों का आनन्द पा लिया। अकबर उस समय बड़ा गुणग्राही माना जाता था। किसी ने उनसे कहा – आप भी जाइये, अकबर आपको बड़ा सम्मान देगा। वे बोले – भई, अब मैं कहाँ जाऊँ? उन्होंने जीवन में श्रीराम और रामभक्तों को छोड़ किसी अन्य राजा या सम्राट् का गुण गाया ही नहीं। किसी ने कहा – आप राजाओं को भी महत्त्व नहीं देते और रामायण में इन्द्र की भी आलोचना करते हैं। इन्द्र नाराज हो जायेंगे।

स्वारथ परमारथ सकल सुलभ एक ही ओर।
द्वार दूसरे दीनता न तुलसी उचि तोर ।। दोहा. ५४

गोस्वामीजी हँसकर बोले – अरे भाई, वे दिन बीत गये, जब वस्तुओं की आवश्यकता थी। अब तो तीन हाथ कपड़े के द्वारा शरीर ढँक लें और बिना नमक की भाजी खा लें। इतने में भगवान बसते हैं, तो बेचारा इन्द्र क्या है?

तीन टूक कौपीन अरू भाजी बिनु लौन
इतने में रघुबर बसै तो इन्द्र बापुरो कौन ।। अज्ञात

जो बालक इतना दरिद्र था कि चार दाने चने के लिए तरस रहा था, उसने श्रीराम के गुणों का रस पाया, तो किसी अन्य का गुण गाया ही नहीं। पं. जवाहरलाल जी ने अपनी पुस्तक में लिखा कि अकबर के काल में एक ऐसे कवि हुए जिनकी रामायण बड़ी लोकप्रिय है। विनोबाजी ने जब वह वाक्य देखा, तो उन्हें लिखा कि तुमने तुलसीदास का स्मरण किया, यह तो ठीक है, पर तुमने उल्टे ढंग से लिखा कि अकबर के काल में तुलसीदास पैदा हुए, यह बिलकुल ठीक नहीं है; बल्कि तुलसीदास के काल में अकबर पैदा हुआ। अकबर का आज क्या महत्त्व है? अकबर का राज्य कब का चला गया, पर तुलसीदास तो आज जन-जन के जीवन में हैं; हम सबके हृदय पर राज्य कर रहे हैं।

❑ ❑ ❑ ❑ ❑ ❑ ❑ ❖ **(क्रमशः)** ❖ ❑ ❑ ❑ ❑ ❑ ❑ ❑

दुःख और उसका निवारण

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय-समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

मानव-जीवन सुख और दुःख से भरा है। कोई ऐसा मनुष्य नहीं होगा, जिसके जीवन में केवल सुख-ही-सुख हो या केवल दुःख-ही-दुःख। हाँ, यह बात सत्य है कि जीवन में सुख की अपेक्षा दुःख अधिक है। थोड़ा-सा सुख पाने के लिए हम कितना दुःख उठाते हैं, बहुधा इसकी ओर हमारा ध्यान नहीं जाता।

जीवन के दुःखों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। एक श्रेणी वह है, जहाँ दुःख सुख के आगे आगे चलता है। इसे यों भी कह सकते हैं कि दुःख की प्रक्रिया में से गुजर कर मनुष्य को सुख प्राप्त होता है। एक घण्टे फुटबाल का मैच देखकर सुख की संवेदना पाने के लिए कलकत्ते में लोग टिकट खरीदने के लिए खुले आकाश के नीचे ४८-४८ घण्टे क्यू में लगकर वर्षा तथा धूप का कष्ट सहा करते हैं। धन की प्राप्ति हमारे मन में सुख की संवेदना उठाती है, पर इसके लिए हमें कितना श्रम करना पड़ता है, कितना कष्ट उठाना पड़ता है! भोग के साधन जुटाने के लिए हमें कितना कष्ट झेलना पड़ता है! फिर, इसी प्रकार जब सुख की संवेदना नष्ट होती है, तब भी हमें दुःख होता है। इसे अनिवार्य दुःख कहा जा सकता है। यदि तनिक गहराई से सोचें, तो देखेंगे कि इस अनिवार्य दुःख के मूल में हमारी तृष्णा विद्यमान है। तृष्णा को महाभारत में 'प्राणान्तक रोग' कहा गया है – **योऽसौ प्राणान्तिको रोगः तां तृष्णां त्यजतः सुखम्**। इस दुःख से उबरने का रास्ता तृष्णा के त्याग को बताया गया है।

दुःख का दूसरा प्रकार वह है, जो हम पर बलपूर्वक थोपा जाता है। हम उसे नहीं लाते, बल्कि वही स्वयं आकर हम पर हावी हो जाता है। जैसे, हम रास्ते में जा रहे हैं और कोई वाहन आकर हमसे टकरा गया, हमारी हड्डी टूट गयी और हम महीनों प्लास्टर में बँधे पड़े रहे। या फिर हमें किसी रोग ने धर दबोचा। दुःख के ये रूप ऐसे हैं, जिन्हें हमने नहीं बुलाया था, पर जो खुद आकर हमें पीड़ित करते हैं। उनसे बचने का कोई उपाय नहीं है। तो फिर इन दुःखों के लिए क्या किया जाय? गीता में हमें इसका उत्तर मिलता है, जहाँ कहा है – **तांस्तितिक्षस्व भारत** – अर्जुन, उनको सहन करो। ऐसे अपरिहार्य दुःख को सह लेना पड़ता है।

एक तीसरे प्रकार का दुःख है, जो न परिहार्य है, न अपरिहार्य, पर जिसे हम स्वयं ले आते हैं। बात अटपटी लग सकती है, पर है सत्य, और वह है – ईर्ष्या से पैदा होनेवाला दुःख। इसे 'आत्मकृत्' अर्थात् खुद पैदा किया गया दुःख भी कहते हैं। इसके कारण हम दूसरों के सुख को देखकर स्वयं दुःख का अनुभव करते हैं। इसे बोलचाल की भाषा में 'डाह' भी कहते हैं। मन की यह वृत्ति बड़ी विचित्र है, यह हमें अकारण ही जलाती है। हमने अपने पड़ोसी के घर रेफ्रीजिरेटर क्या देखा कि हमारी ईर्ष्याग्नि भड़ककर हमें जलाने लगती है। यदि मेरा कोई परिचित अपने किसी प्रशंसनीय कार्य के कारण जनप्रिय और यशोधन हो जाता है, तो वह मुझे सुहाता नहीं। यदि किसी को लाटरी मिल जाती है, तो मेरा हृदय कचोटने लगता है। हमारे एक परिचित सज्जन एक घटना सुनाया करते हैं। एक वर्ष उनके किसी परिचित ईंट के ठेकेदार को अच्छा मुनाफा हुआ। उससे भेंट होने पर वे उससे बोले, "इस साल तो आपको अच्छा-खासा लाभ हुआ है!" "क्या खाक लाभ हुआ, पिछले साल तो घाटा हो गया था!" – ठेकेदार का उत्तर था।

"पिछले साल की बात छोड़िए, इस साल तो आपको खुशी मनानी चाहिए" – वे बोले।

"क्या खुशी मनाऊँ, मेरे पड़ोसी ठेकेदार को तो दुगुना फायदा हुआ है!" – ठेकेदार ने शिकायत के स्वर में कहा।

यह आत्मकृत् दुःख है। इसे हमें अपने मन का जोर बढ़ाकर बलपूर्वक झटक देना चाहिए। तो, अनिवार्य दुःख को दूर करने का उपाय है, तृष्णा पर अंकुश लगाना, अपरिहार्य दुःख को सह लेना चाहिए तथा आत्मकृत् दुःख को मन का जोर लगाकर पुरुषार्थ के द्वारा झटककर दूर कर देना चाहिए।

❑❑❑

श्रीरामकृष्ण की कथाएँ और दृष्टान्त

(कथाओं व दृष्टान्तों के माध्यम से अपनी बातें समझाने की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। श्रीरामकृष्ण भी अपने उपदेशों के दौरान कथाओं तथा दृष्टान्तों के माध्यम से धर्म के गूढ़ तत्त्व समझाते थे। यत्र-तत्र बिखरी इन मूल्यवान कथाओं को यहाँ धारावाहिक रूप से प्रस्तुत किया जा रहा है। जनवरी २००४ से जून २००५ तक और तदुपरान्त अप्रैल २००६ अंक से ये पुन: प्रकाशित हो रही हैं – सं.)

– १५६ –

अलौकिक नशा

एक दिन शाम के चार बजे किसी ने एक मोर को अफीम खिला दी। दूसरे दिन से ठीक चार बजे वह मोर वहाँ आ पहुँचता! उसे उसी समय अफीम की तलब लगती और वह बेचैन होकर अफीम खाने के लिये वहाँ आ जाता।

वैसे ही जो कोई भी श्रीरामकृष्ण के सम्पर्क में आता, उसके मन में सर्वदा पुन: पुन: जाकर उनसे मिलने और उनकी बातें सुनने के लिये तीव्र आकांक्षा बनी रहती थी।

– १५७ –

शक्ति की लीला

एक पण्डित बड़ा अभिमानी था। वह ईश्वर के रूप को नहीं मानता था। परन्तु ईश्वर का कार्य कौन समझे? वे आद्याशक्ति काली के रूप में उसके सामने प्रकट हुए। पण्डित बेहोश हो गया। बड़ी देर बाद जरा-सा होश आने पर वह लगातार – 'का, का, का' (अर्थात्, 'काली') की रट लगाता रहा।

– १५८ –

ईश्वर की लीला बुद्धि के परे है

अपनी अल्पबुद्धि के द्वारा ईश्वर का काम हम लोग भला कैसे समझ सकते हैं?

भीष्मदेव शरों की शय्या पर लेटे देह छोड़ने की तैयारी कर रहे थे। श्रीकृष्ण के साथ सभी पाण्डव उन्हें चारों ओर से घेरकर खड़े थे। सब ने देखा – भीष्मदेव की आँखों से आँसू बह रहे हैं। अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा – 'भाई, यह तो बड़े आश्चर्य की बात है कि स्वयं भीष्म पितामह – जो सत्यवादी, जितेन्द्रिय, ज्ञानी, आठों वसुओं में से एक हैं, वे भी देह छोड़ते समय माया में पड़कर रो रहे हैं।''

श्रीकृष्ण बोले – ''नहीं, भीष्म इसलिए नहीं रो रहे हैं। रोने का कारण तुम उन्हीं से सुनो।''

जब श्रीकृष्ण ने भीष्मदेव से यह बात कही, तो वे कहने लगे – ''कृष्ण, तुम खूब जानते हो कि मैं किसलिए रो रहा हूँ। देखता हूँ कि जिनका नाम जपने मात्र से लोग संसार से तर जाते हैं, वे साक्षात् नारायण ही जिन पाण्डवों के सखा तथा सारथी के रूप में उनके साथ-साथ घूम रहे हैं, तो भी उनके दुखों तथा विपत्तियों का अन्त नहीं होता। और मैं यही सोचकर आँसू बहाता हूँ कि भगवान की लीला का रहस्य अब तक जरा भी समझ नहीं सका।''

– १५९ –

शिव बड़े या ब्रह्मा

पद्मलोचन बड़ा ज्ञानी था। मैं 'माँ-माँ' कहकर प्रार्थना करता, तो भी मुझे खूब मानता था, वह बर्दवान राज्य का सभा-पण्डित था। एक बार वह कलकत्ते आया और कामारहाटी के पास एक बाग में रहता था। मेरी बड़ी इच्छा हुई कि जाकर पण्डित को देखूँ। मैंने हृदय को यह जानने के लिए भेजा कि पण्डित में अभिमान है या नहीं। सुना – अभिमान नहीं है। उससे भेंट हुई। वह इतना ज्ञानी और पण्डित था, पर मेरे मुँह से रामप्रसाद के गाने सुनकर रो पड़ा! बातें करके ऐसा सुख मुझे अन्यत्र कहीं नहीं मिला।

पद्मलोचन ने मुझे एक रोचक घटना बतायी। यह निर्णय करने के लिये एक सभा बुलायी गयी कि शिव बड़े हैं या ब्रह्मा। अन्त में पण्डितों ने पद्मलोचन से पूछा। पद्मलोचन ने बड़ी सरलतापूर्वक कहा – ''मैं क्या जानूँ? मेरे चौदह पुरखों में से न तो किसी ने शिव को देखा और न ब्रह्मा को।''

– १६० –

नर-रूपधारी ईश्वर

ईश्वर स्वयं ही आदमी बनकर खेल रहे हैं। जब पत्थर या मिट्टी की मूर्ति में उनकी पूजा होती है, तो मनुष्यों में क्यों नहीं हो सकती?

एक सौदागर अपने जहाज में माल भरकर व्यापार करने जा रहा था। लंका के पास जहाज के डूब जाने से वह बहते हुए लंका के तट से जा लगा। उस समय वहाँ विभीषण का राज्य चल रहा था। सिपाही उसे पकड़कर विभीषण के पास ले गये। विभीषण ने उसे देखा, तो यह कहकर आनन्द मनाने लगे – ''अहा! मेरे रामचन्द्र जैसी इसकी मूर्ति है। वही नर-रूप!'' फिर उसे तरह-तरह के वस्त्र-आभूषण पहनाकर उसकी पूजा-आरती की! यह बात जब मैंने पहली बार सुनी, तो मुझे इतना आनन्द हुआ था कि कह नहीं सकता।

– १६१ –
ईश्वर कब हँसते हैं

भगवान दो बातों पर हँसते हैं। एक तो वे तब हँसते हैं, जब वैद्य रोगी को देखकर उसकी माँ से कहता है – "माँजी, घबड़ाने की कोई बात नहीं, मैं तुम्हारे लड़के को ठीक कर दूँगा।" उस समय भगवान यह सोचकर हँसते हैं कि मैं मार रहा हूँ और यह कहता है – बचाऊँगा। वैद्य सोचता है कि मैं कर्ता हूँ। वह भूल जाता है कि ईश्वर ही सच्चे कर्ता हैं।

दूसरी बार ईश्वर तब हँसते हैं, जब दो भाई रस्सी लेकर जमीन नापते हैं और कहते हैं – "इधर का हिस्सा मेरा है और उधर का तेरा।" इस पर ईश्वर यह सोचकर हँसते हैं कि यह सारा विश्व-ब्रह्माण्ड मेरा बनाया हुआ है और ये लोग कह रहे हैं – इधर का मेरा और उधर का तेरा।"

– १६२ –
देवी का दर्शन

मूर्तियों में आविर्भाव मानना ही पड़ता है। एक बार मैं विष्णुपुर* गया था। वहाँ राज-परिवार के कई अच्छे-अच्छे मन्दिर हैं। वहाँ मृण्मयी नाम की जगदम्बा की एक मूर्ति है। मन्दिर के निकट ही कृष्णबाँध, लालबाँध नाम के बड़े-बड़े तालाब हैं। तालाब में मुझे उबटन के मसाले की सुगन्ध मिली ! भला ऐसा क्यों हुआ? मुझे तो मालूम भी न था कि स्त्रियाँ जब मृण्मयी देवी के दर्शन के लिए जाती हैं, तो उन्हें वह मसाला चढ़ाती हैं ! तालाब के पास मेरी भाव-समाधि हो गयी। उस समय तक विग्रह नहीं देखा था – भावावेश में मुझे वहीं पर मृण्मयी देवी के कमर तक दर्शन हुए।

– १६३ –
कौन कह सकता है?

समय हुए बिना कुछ नहीं होता। जब रोग अच्छा होने को हुआ, तो वैद्य ने कहा – "इस पत्ते को काली मिर्च के साथ पीसकर खाना।" उसके बाद रोग दूर हो गया। अब रोग काली मिर्च के साथ दवा खाकर ठीक हुआ, या यों ही ठीक हो गया, कौन कह सकता है?

लक्ष्मण ने लव-कुश से कहा – "तुम बच्चे हो, श्रीराम को नहीं जानते। उनके चरण-स्पर्श से अहिल्या पत्थर से मानवी बन गयी।" लव-कुश बोले – "महाराज, हम सब जानते हैं, सब सुना है। पत्थर से जो मानवी बनी, यह मुनि का वचन था। गौतम मुनि ने कहा था कि त्रेतायुग में श्रीराम उस आश्रम के पास से होकर जायेंगे, उनके चरण-स्पर्श से तुम फिर मानवी बन जाओगी। तो वह राम के गुण से बनी या मुनि के वचन से – कौन कह सकता है?"

सब कुछ ईश्वर की इच्छा से हो रहा है।

* कोलकाता से श्रीरामकृष्ण के जन्मस्थान कामारपुकुर जाते समय मार्ग पड़नेवाला एक स्थान

मनुष्य की दिव्य अवस्थाएँ

– १६४ –
ईश्वर-प्रेम का प्याला

एक आदमी का पुत्र शराबी हो गया। लोग उसके पास शिकायत लेकर गये। उसने पुत्र को समझाया –"बेटा, शराब बुरी चीज है, इससे जीवन बरबाद हो जाता है।"

लड़के ने बाप से कहा – "ठीक है, पिताजी, आप कहते हैं तो मैं शराब पीना छोड़ दूँगा। लेकिन पहले आप भी एक बार थोड़ी-सी शराब चख लीजिये और उसके बाद यदि कहेंगे कि छोड़ दूँ, तो अवश्य छोड़ दूँगा।"

शराब चखने के बाद पिता ने पुत्र से कहा – "बेटा, तू शराब छोड़ना चाहे तो भले ही छोड़ दे, मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं, लेकिन मैं तो बिल्कुल नहीं छोड़ूँगा !"

– १६५ –
सिद्ध पुरुष की उन्मत्त अवस्था

श्रीरामकृष्ण ने एक ज्ञानी को पागल की तरह देखा था। दक्षिणेश्वर में मन्दिर की स्थापना के कुछ दिन बाद वह आया था। लोगों ने कहा, वह राममोहन राय की ब्राह्मसभा का एक आदमी था। वह पूर्ण ज्ञानी था – फटे जूते पहने था। हाथ में बाँस की एक पतली छड़ी, एक हण्डी और गमले में लगा हुआ एक आम का पौधा लिये हुए था। गंगा में डुबकी मारकर निकला। न संध्या, न पूजन ! कपड़े में कुछ लिये हुए था, वही खाने लगा। फिर काली-मन्दिर में जाकर स्तव की आवृत्ति करने लगा – 'क्षौं क्षौं खट्वांग-धारिणी' आदि। ऐसी अपूर्व आवृत्ति की कि सारा मन्दिर मानो कम्पित हो उठा ! हलधारी (पुजारी) उस समय मन्दिर में था।

एक दिन अतिथिशाला में लोगों ने उसे खाने को नहीं दिया था, परन्तु उसने जरा भी परवाह नहीं की, कुछ माँगा नहीं। एक जगह एक कुत्ते को जूठी पत्तलों में से जूठन खाते देखकर वह उसका कान पकड़कर बोला – "तुम खाते हो, हमको नहीं देते?" जूठी पत्तलें खींच खींचकर उनमें जो कुछ लगा था, वही खाने लगा; कभी-कभी कुत्तों को हटाकर भी खाता था। कुत्तों ने उसका कुछ नहीं किया।

हलधारी ने उससे पूछा – "तुम कौन हो? क्या तुम पूर्ण ज्ञानी हो?" तब उसने कहा था – "मैं पूर्ण ज्ञानी हूँ ! चुप !!" मैंने हलदारी से जब ये सब बातें सुनीं, मेरा कलेजा दहलने लगा, मैं हृदय से लिपट गया। माँ से कहा – "माँ,

(शेष अगले पृष्ठ पर)

नारदीय भक्ति-सूत्र (८)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के बारहवें अध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्द जी ने अपने १० वर्षों के जापान-दौरों के दौरान वहाँ के करीब ७५ जापानी भक्तों के लिये अंग्रेजी भाषा में, प्रतिवर्ष एक सप्ताह 'नारद-भक्ति-सूत्र' पर कक्षाएँ ली थीं। उन्हें टेप से लिपिबद्ध और सम्पादित करके अद्वैत आश्रम द्वारा एक सुन्दर ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया गया है। वाराणसी के श्री रामकुमार गौड़ ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

सा न कामयमाना, निरोधरूपत्वात् ।।७।।

अन्वयवर्थ – **सा** - वह (भक्ति), **न कामयमाना** – कुछ अन्य की अपेक्षा नहीं रखती, **निरोध** – नियंत्रण, **रूपत्वात्** – स्वरूप होने के कारण।

अर्थ – भक्ति किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं रखती, क्योंकि यह इन्द्रियों के पूर्ण नियंत्रण द्वारा प्राप्त होती है।

हमने छठवाँ सूत्र पूरा कर लिया है। अब हम सातवाँ सूत्र शुरू करते हैं। इसमें भक्ति की आगे की विशेषताओं का वर्णन है। इसके पहले नारद ऐसे साधक की विशेषताओं का वर्णन कर रहे थे, जिसने भक्ति प्राप्त कर ली हो। अब वे भक्ति के स्वरूप की व्याख्या कर रहे हैं। भक्ति ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो किसी इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिये साधन के रूप में प्रयुक्त होती हो। ऐसा इसलिये है कि यह निरोध अर्थात् इच्छाओं के नाश के स्वरूपवाली होती है। जब किसी के मन में सच्ची भक्ति का उदय होता है, तो उसकी सारी इच्छाएँ पूर्णरूपेण दूर हो जाती हैं। भक्ति का ऐसा स्वरूप होने के कारण यह किसी इच्छा की पूर्ति का साधन नहीं हो सकती। भक्ति का अर्थ ही है – सभी कामनाओं का निषेध, अत: दोनों साथ-साथ नहीं रह सकतीं। भक्ति और कामनाओं का एक साथ रहना या किसी वांछित वस्तु की प्राप्ति के लिये भक्ति करना – ऐसा सम्भव नहीं है।

सामान्यत: हम किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। हम भगवान की कृपा से ऐसा कुछ प्राप्त करने हेतु प्रार्थना करते हैं, जिसे हम किसी अन्य तरीके से प्राप्त नहीं कर सकते या अपने प्रयत्न द्वारा जिसे प्राप्त करना कठिन समझते हैं। जिसे हम प्राप्त करना चाहते हैं, वह धन-सम्पदा हो सकती है, कोई जागतिक वस्तु हो सकती है, नाम-यश हो सकता है या समाज में विशिष्ट स्थिति हो सकती है। हमारी कामनाएँ संख्या में असीमित होती हैं और वे जिस द्रुत गति से बढ़ रही हैं, उसे हम समझ नहीं सकते। अत: ऐसी कामनाओं की पूर्ति के लिये भगवान से प्रार्थना करना सामान्य मनुष्य के लिये स्वाभाविक ही है। परन्तु इस समय हम जिस भक्ति की चर्चा कर रहे हैं, वह वैसी भक्ति नहीं है। यहाँ भक्ति को परम प्रेमरूपा कहा गया है। यह किसी प्रकार की इच्छा के साथ नहीं रह सकती, इसीलिये ऐसा कहा गया है कि भक्ति किसी इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिये नहीं होती, क्योंकि इसका स्वरूप ही है – सभी कामनाओं का निषेध। वास्तविक भक्ति को समझना बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

गीता में भक्तों को चार प्रकारों में विभाजित किया गया है।[१]

१. आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ गीता, ७/१६

पिछले पृष्ठ का शेषांश

तो क्या मेरी भी यही अवस्था होगी?'' हम लोग उसे देखने गये। हम लोगों से खूब ज्ञान की बातें करता था, दूसरे आदमी आते तो वही पागलपन शुरू कर देता था।

बाद में जब वह जाने लगा, तब मैंने हृदय को उसके साथ जाकर देखने को कहा। हृदय उसके पीछे-पीछे थोड़ी दूर गया। कुछ देर बाद उस साधु ने पलटकर पूछा – ''तू क्यों आ रहा है?'' हृदय ने कहा – ''मैं कुछ उपदेश चाहता हूँ।'' तब साधु बोला – ''जब तुम्हें इस नाले का पानी और गंगाजल – दोनों एक प्रतीत होंगे; जब इस शहनाई की आवाज और शोरगुल की आवाज – दोनों एक ही मालूम होंगी, तब समझना कि तुम्हें ठीक-ठीक ज्ञान हुआ है।''

श्रीरामकृष्ण कहा करते – ''उस व्यक्ति को ज्ञानोन्माद की अवस्था थी।'' सिद्ध पुरुष संसार में बालकवत्, पिशाचवत् अथवा उन्मत्तवत् विचरण किया करते हैं। ❖ **(क्रमश:)** ❖

१. आर्त भक्त वह है, जो दुख-कष्ट में है और उससे उबरने के लिये भगवान से प्रार्थना करता है।

२. जिज्ञासु वह है, जो सृष्टि का रहस्य जानना चाहता है; ब्रह्माण्ड तथा अपने भीतर निहित रहस्यों को जानना चाहता है। इन्हें अपने स्वयं के प्रयास से नहीं जान सकता, अत: वह भगवान से प्रार्थना करता है। ऐसे भक्त को जिज्ञासु कहते हैं, अर्थात् जो जानने की इच्छा रखे। वह भी एक भक्त है।

३. अर्थार्थी भक्त वह है, जो किसी प्राप्त करने योग्य वस्तु को पाने की इच्छा रखता है। वह किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये प्रार्थना करता है। वह ईश्वर की कृपा से, ईश्वर के आशीर्वाद से कुछ पाना चाहता है।

४. ज्ञानी भक्त वह है, जिसने जान लिया है कि ईश्वर ही एकमात्र प्राप्तव्य हैं और उनके प्रति सहज भक्ति रखता है।

भक्तों की ये चार श्रेणियाँ हैं। गीता में कहा गया है कि ईश्वर के प्रति भक्ति रखने के कारण ये चारों महान् हैं। फिर भी ज्ञानी भक्त, जिसने समझ लिया है कि ईश्वर ही एकमात्र प्राप्तव्य हैं; जिसने जान लिया है कि ईश्वर ही हमारे ज्ञान आदि सभी की परिपूर्ति हैं, सचमुच उसकी तो कोई तुलना ही नहीं है। गीता में भगवान स्पष्ट कहते हैं – "ज्ञानी तो मेरी आत्मा है। वह मुझसे एकाकार है, अत: वह मुझे प्राणों के समान प्रिय है।"[२] इसका अर्थ यह है कि तारतम्य के हिसाब से ज्ञानी सर्वोच्च है और अन्य प्रकार के भक्त निम्नतर स्तर के हैं। इस सूत्र में इसी बात को भिन्न तरीके से कहा गया है। जब तक हम ईश्वर को साध्य के रूप में नहीं, अपितु साधन के रूप में खोजते हैं, तब तक हम सच्चे भक्त नहीं कहे जा सकते। सच्चा भक्त ईश्वर को साधन नहीं बनाता, बल्कि उसके लिये ईश्वर स्वयं में एक साध्य हैं। चूँकि भक्ति और कामना कभी एक साथ नहीं रह सकते, इसलिये सही प्रकार की भक्ति साधन नहीं, अपितु अपने आप में साध्य है। ऐसा इसलिये है कि एक के रहते दूसरी नहीं रह सकती। जहाँ भक्ति है, वहाँ अन्य कोई इच्छा रहेगी ही नहीं। इस सूत्र में इसी बात पर बल दिया गया है कि भक्ति किसी इच्छित वस्तु की प्राप्ति का साधन नहीं है, क्योंकि यह सभी इच्छाओं का निषेध है। यही मूल बिन्दु है।

इसी कसौटी पर हम अपनी भक्ति की सच्चाई को परख सकते हैं। यदि हमारी भक्ति सच्ची है, तो हम ईश्वर से कुछ भी नहीं मागेंगे – यहाँ तक की जन्म-मरण से मुक्ति या मोक्ष भी नहीं माँगेंगे। सच्चा भक्त यह सब नहीं चाहता और इसके सिवा वह भक्ति से सुख भी नहीं पाना चाहता। यदि हम आनन्द और शान्ति पाने हेतु भक्ति करना चाहते हैं, तो ऐसी भक्ति स्वयं में साध्य न होकर साधन बन जाती है। सच्चा भक्त ऐसा नहीं करता। अत: हम जिस सुख और शान्ति की प्राय: चर्चा करते हैं, यथा – 'मुझे तो केवल भक्ति से ही शान्ति मिल सकती है' आदि, आदि, वह वहाँ तक तो ठीक है। परन्तु यह भक्ति सर्वोच्च भक्ति की तुलना में बहुत निम्न कोटि की है। क्योंकि सच्ची भक्ति में भक्ति स्वयं ही लक्ष्य है और स्वामी विवेकानन्द ने अपने 'भक्तियोग' ग्रन्थ में इसी बात पर जोर दिया है। यदि रंचमात्र भी कोई इच्छा हो, भले ही वह सर्वोच्च प्रकार की हो, तो वह भी इच्छा है और इस कारण निषिद्ध है। तो फिर श्रीरामकृष्ण की उस उक्ति के बारे में क्या कहेंगे – "भक्ति की कामना कामनाओं में नहीं है।"[३] यह मानो एक श्लेषपूर्ण उक्ति है। भक्ति की कामना कामना ही नहीं है, क्योंकि भक्ति तो कामना का निषेध है। भक्ति की इच्छा का अर्थ हुआ – इच्छा को दूर करने की इच्छा। यह दर्शाता है कि ऐसी इच्छा तो इच्छा ही नहीं है।

इस प्रकार, भक्ति को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है – एक मार्ग के रूप में और दूसरा लक्ष्य के रूप में। मोटे तौर पर हम सारी चीजों को भक्ति शब्द में समाहित कर लेते हैं। जब तक हम मार्ग में हैं, तब तक यह स्वाभाविक है कि हम भक्ति के द्वारा किसी उद्देश्य की प्राप्ति की इच्छा करें। परन्तु लक्ष्य तक पहुँच जाने के बाद सर्वोच्च प्रकार की इच्छाएँ भी अपना अस्तित्व खो बैठेंगी।

अत: भक्ति की यह विशेषता याद रखनी होगी कि वह इच्छा का निरोध है। भक्ति इच्छाओं के निरोध के स्वरूपवाली होती है। किसका निरोध? यह अगले सूत्र में बताया जायेगा।

निरोधस्तु लोक-वेद-व्यापार-न्यासः ।।८।।

अन्यवयार्थ – **निरोधः** – नियंत्रण, **तु** – अर्थ है, **लोक** – लोगों का मत, **वेद** – वेदों का विधान, **व्यापार** – सभी क्रिया-कलाप, **न्यासः** – परित्याग।

अर्थ – नियंत्रण या निरोध का अर्थ है – जनमत, वेद-विधान तथा सभी क्रिया-कलापों का त्याग।

यहाँ निरोध का अर्थ है – निवृत्ति अर्थात् वेदों अथवा सांसारिक रीतियों द्वारा अपेक्षित क्रिया-कलापों से विमुखता। वैदिक विधि-निषेधों को भी त्याग देना चाहिये। हमें सांसारिक लक्ष्यों की खोज छोड़ देनी होगी। वेदों द्वारा हमारे लिये निर्धारित – मुक्ति, मोक्ष या विभिन्न पदार्थों की प्राप्ति आदि सभी लक्ष्यों का त्याग करना होगा। इच्छित वस्तुओं को पाने के उद्देश्य से लोगों को प्रसन्न करने हेतु हम जो जागतिक क्रिया-कलाप करते हैं; या अन्य लोगों के विचारों के अनुरूप हम जो चलने का प्रयास करते हैं, जैसा कि लोग कहते हैं कि 'व्यक्ति को इस तरह का या उस तरह का बर्ताव करना चाहिये या फिर लोकमत के अनुसार चलना चाहिये' – इन

२. गीता, ७/१८

३. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, द्वितीय भाग, सं. १९९९, पृ. ७१०

सबको भी छोड़ना होगा। ऐसा इसलिये है कि इन आचारों को मानकर चलने का सर्वदा एक निहित उद्देश्य होता है। वेदों में वर्णित कर्म-फलों को प्राप्त करने हेतु ही हम वेदों के निर्देशों का पालन करते हैं। लोकप्रियता या लोगों की प्रशंसा पाने के लिये ही हम लोकमत के अनुसार चलते हैं। पर भक्त के जीवन से ये सभी चीजें विदा हो जानी चाहिये।

यह बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि आम तौर पर हम वेदों अथवा अन्धे लोकमत द्वारा निर्दिष्ट इन विधि-निषेधों के दास बने रहते हैं। हम इन्हीं के अनुसार चलने लगते हैं। उनका अनुसरण करके हम वेदों में वर्णित पुण्य या लोक-अनुमोदन प्राप्त करते हैं। लोगों की प्रशंसा सुनकर तथा उनकी निगाह में ऊँचे उठकर हमें बड़ा आनन्द मिलता है। हमें इन सभी का परित्याग करना होगा।

भक्त ऐसी बातों से प्रभावित नहीं होता। उसका आचरण धर्मशास्त्रों या लोकमत के निर्देशों द्वारा परिचालित नहीं होगा। इसका तात्पर्य यह है कि यदि वह कोई सत्कर्म या धर्मशास्त्रों द्वारा निर्धारित कोई क्रिया करता भी है, तो इसलिये नहीं करता कि वह शास्त्र-विहित है, बल्कि उसे अपने सहज अभ्यास के कारण ही करता है। उस तरह के कर्म करना उसका स्वभाव होता है और इसीलिये वह उन्हें करता है, न कि शास्त्र-विहित कर्म होने के कारण। या फिर जब वह ऐसा कुछ करता है, जिसके लिये लोग सदाचार के रूप में उसे साधुवाद देते हैं, तो वह उसे इसलिये नहीं करता कि वह लोकमत द्वारा अनुमोदित है, बल्कि इसलिये करता है कि वह उसका स्वभाव है। वह इतने लम्बे अरसे से उसी प्रकार रहता आया है कि सदाचार उसका स्वभाव ही बन गया है। वह किसी निश्चित विचार अथवा ईश्वर या किसी अन्य व्यक्ति से कोई लाभ पाने की प्रेरणा से ऐसा नहीं करता।

ऐसा नहीं है कि वह वेदों के निर्देशों के विरुद्ध आचरण करेगा। तो भी, जिस प्रकार एक गुलाम अपने स्वामी के आदेशों के अनुसार चलता है, उस प्रकार वह उनका दासवत् अनुसरण नहीं करेगा, क्योंकि वह आचरण सहज-स्वाभाविक नहीं होता। जो व्यक्ति स्वाभाविक रूप से भला है, वह भला करने की इच्छा से भलाई नहीं करता, बल्कि इसलिये करता है कि सदाचार उसकी अन्तरात्मा से सहज रूप में प्रवाहित होता है। इसमें भला करने का कोई निजी प्रयास नहीं रहता। इसका अर्थ यह नहीं कि वह भले कर्म नहीं करेगा, बल्कि वह प्रयासपूर्वक वेदों या जगत् द्वारा अनुमोदित भले कार्यों को नहीं करेगा। इसी बात को याद रखना आवश्यक है।

भागवत के एक श्लोक में यह बात बड़े सुन्दर ढंग से कही गयी है। श्रीकृष्ण की बाँसुरी की पुकार को सुनकर जब गोपियाँ उनसे मिलने गईं, तो श्रीकृष्ण ने उनकी परीक्षा लेने हेतु उनसे पूछा – "तुम लोग आधी रात के समय इस घने जंगल में क्यों आई हो? पहली बात तो यह कि तुम लोग अपने घर से इतनी दूर आई हो; तुम्हारे स्वजन तुम्हारी निन्दा और आलोचना करेंगे। तुम लोगों को अपने स्वजनों के प्रति निष्ठावान रहकर अपने गृह-कार्यों में लगी रहना था। उसकी जगह तुम लोगों ने अपने कर्तव्यों की अवहेलना की है और यह निन्दनीय है। दूसरी बात यह कि यह जंगल वन्य पशुओं से भरा है, अतः तुम लोगों के लिये खतरनाक हो सकता है। अत: वापस लौटकर अपने गृह-कार्यों में लग जाओ।" गोपियों ने उत्तर दिया – "यह ठीक है कि हमारे मन गृह-कार्यों में लगे थे, पर तुम्हीं ने तो हमारे मनों को चुरा लिया। हमारे हाथ अपने कार्यों में लगे थे, पर अब उनकी शक्ति चली गई है। हमारे पैरों से चलने की शक्ति जा चुकी है, अत: अब हम कैसे लौटें? जब हमारे पाँव ही नहीं चलते, हाथ ही नहीं चलते, तो हम लोग अपने गृह-कार्यों को कैसे पूरा करे? इसलिये अब हम अपने घरों को कैसे लौटें और यदि किसी तरह लौट भी जायें, तो वहाँ करेंगी क्या?"

इसका बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया गया है। जब मन ईश्वर में लीन हो जाता है, तो शास्त्रों द्वारा विहित या लोकमत द्वारा अनुमोदित कर्तव्यों में लगे रहना असम्भव हो जाता है। यह असम्भव ही हो जाता है। व्यक्ति जान-बूझकर उन कर्तव्यों की उपेक्षा नहीं करता। तब साधक इन कर्तव्यों को करने में अक्षम हो जाता है। वह उन्हें सम्पन्न करने की दक्षता खो बैठता है। जो मन उस कार्य में लगाया जायेगा, वह तो ईश्वर में डूब चुका है और मन जब ईश्वर में डूब जाता है, तब अन्य इन्द्रियाँ भी सामान्य ढंग से काम नहीं करतीं। यही बात गोपियाँ श्रीकृष्ण को बताना चाहती थीं।

❖ (क्रमशः) ❖

अहंकार से परमात्मा दूर रहते हैं

कितनी भी चेष्टा करो, ईश्वर की कृपा के बिना कुछ नहीं होता। पर उनकी कृपा भी सहज में नहीं होती। उसके लिए अहंकार को त्यागना पड़ता है। 'मैं कर्ता हूँ' – इस बोध के रहते उनके दर्शन नहीं हो सकते। भण्डार में कोई हो, तो घर का मालिक स्वयं कोई चीज निकालने नहीं जाता। जो खुद ही कर्ता बना बैठा है, उसके हृदय में भगवान आसानी से नहीं आते।

– श्रीरामकृष्ण

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

६१. ऐसो को उदार जग माही

एक बार श्रीकृष्ण ने जब अर्जुन से कहा कि इस पृथ्वी पर कर्ण जैसा दानी दूसरा कोई नहीं है, तो यह सुन उन्हें बुरा लगा। उसने कहा – ''युधिष्ठिर जैसे धर्मप्रिय तथा उदार व्यक्ति के होते हुये आप कर्ण को कैसे दानी बता रहे हैं?'' श्रीकृष्ण बोले – ''इसका बोध तुमको मैं कुछ दिनों बाद कराऊँगा और तब तुम मेरे कथन पर यकीन करोगे।''

एक दिन वर्षा हो रही थी। श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा – ''चलो, हम वेश बदलकर नगर की सैर करने चलें।'' दोनों गरीब ब्राह्मण का वेश धारण करके युधिष्ठिर के पास पहुँचे। श्रीकृष्ण ने हाथ जोड़कर युधिष्ठिर से कहा – ''राजन्, हमारी इच्छा यज्ञ करने की है, परन्तु हम अत्यन्त दरिद्र होने के कारण यज्ञ-अनुष्ठान में लगनेवाली लकड़ियों को खरीदने में असमर्थ हैं। यदि आप शुष्क लकड़ियों की व्यवस्था कर सके, तो आपकी बड़ी कृपा होगी।''

युधिष्ठिर ने दोनों को आसन पर बैठाकर उनका यथोचित सम्मान किया और सेवकों को नगर से चन्दन की शुष्क लकड़ियाँ ले आने का आदेश दिया। उस दिन रुक-रुककर वर्षा हो रही थी। थोड़ी ही देर में सेवक वापस लौट आये और बताया कि वर्षा के कारण नगर की सारी लकड़ियाँ भीग गई हैं। सूखी लकड़ियाँ कहीं भी नहीं मिल सकीं। युधिष्ठिर ने उन छद्म वेशधारी मुनियों से कहा – ''विप्रवर, मूसलाधार वर्षा के कारण नगर की सारी लकड़ियाँ भीग गई हैं। अत: आज मैं आपकी इच्छा पूरी करने में असमर्थ हूँ। इसके लिये मुझे बड़ा खेद है। आप यदि यज्ञ को स्थगित कर फिर कभी आयें, तो मैं आपकी इच्छा अवश्य पूरी करूँगा।''

अब श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्ण के पास ले गये। उन्होंने भी दोनों का यथोचित स्वागत किया। फिर मुनियों की आवश्यकता की पूर्ति के लिये सेवकों को आदेश दिया कि महल के द्वार तथा खिड़कियों को तोड़कर उनकी लकड़ियाँ ले आयें। इस पर श्रीकृष्ण ने कहा – ''राजन्, इतने कीमती द्वारों और खिड़कियों को आप क्यों तुड़वा रहे हैं? हमें तो साधारण लकड़ियाँ चाहिये।'' कर्ण बोले – ''ये द्वार-खिड़कियाँ तो बाद में भी बनायी जा सकती हैं, लेकिन याचकों को मैं भला खाली हाथ कैसे भेज सकता हूँ?''

दोनों ने लकड़ियाँ लीं और वे वहाँ से लौट गये। तब श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा – ''अब तुम्हें विश्वास हो गया न कि कर्ण को मैंने सबसे दानी क्यों बताया था! अर्जुन, शत्रु यदि गुणी हो, तो हमें वैर-भाव भूलकर उसके भी गुणों की प्रशंसा करने में तनिक भी नहीं हिचकिचाना चाहिये।''

६२. पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ

सिरड़ी के सन्त साईं बाबा का रामदासी नामक एक शिष्य था। वह सुबह-शाम नियमित रूप से 'विष्णु-सहस्त्र-नाम-स्तोत्र' का पाठ किया करता था। परन्तु वह नहीं चाहता था कि कोई अन्य शिष्य भी उस पोथी को पढ़े। जब साईं बाबा को यह बात मालूम हुई तो उन्होंने रामदासी को बुलाया। उस समय पोथी उसके हाथ में ही थी। उन्होंने रामदासी से कहा – मेरे पेट में बड़ा दर्द हो रहा है। पोथी मुझे दे दो और शीघ्र ही सोनामुखी लाकर दो।'' रामदासी ने पोथी साईं बाबा को दी और सोनामुखी लाने को चल दिया। सन्त ने वह पोथी दूसरे शिष्य श्याम को देते हुये कहा, रामदासी के आने तक यह पोथी अपने पास रखो। श्याम ने उसे लेने से अस्वीकार करते हुये कहा – ''नहीं, इसे मेरे पास देखकर रामदासी नाराज हो जायेगा।'' साईं बाबा ने पोथी को जबरन श्याम को देते हुये कहा – ''ऐसा कुछ नहीं होगा।'' रामदासी जब साईंबाबा को सोनामुखी देने लगा तो अपनी पुस्तक को श्याम के हाथ में देखकर उसे गुस्सा आ गया। उसने श्याम से कहा – ''तुमने मेरी पोथी उठाने की धृष्टता कैसे की? तुम्हें मालूम नहीं कि मैं यह पोथी किसी को नहीं देता।'' श्याम ने जब बताया कि पोथी उसने नहीं माँगी थी, बल्कि स्वयं बाबा ने दी है, तो भी उसका क्रोध कम न हुआ और उसने कह दिया –''यदि आज के बाद कभी भी यह पोथी तुम्हारे पास दिखाई दी, तो मैं इसे बिल्कुल सहन नहीं करूँगा।''

बाबा ने कहा – ''रासदासी, तुम कैसे 'राम' के 'दास' हो! तुम नित्य पोथी को पढ़ते हो, पर उसमें लिखी बातों को अमल में नहीं लाते। ग्रन्थों को केवल पढ़ना ही नहीं, गुनना भी चाहिये। उनमें लिखे उपदेशों को ध्यानपूर्वक और समझकर पढ़ना ही सच्चा पाठ है। ग्रन्थ को स्वयं तक ही सीमित न रखकर उसे दूसरों को भी पढ़ने के लिये देना चाहिये। यदि न भी देना चाहो, तो उसे इस तरह उच्च स्वर में पढ़ना चाहिये कि वह दूसरों को भी सुनाई दे। इससे स्वयं की आँखों तथा हृदय के साथ-साथ दूसरों के कानों तथा हृदय पर भी असर होता है और यही ग्रन्थ-पाठ की सार्थकता है।'' यह सुनकर रामदासी को आत्मग्लानि हुई और उसने बाबा से क्षमा माँगी।

आत्माराम की आत्मकथा (३५)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। इसकी पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमश: प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

कनखल सेवाश्रम में

उन्हीं दिनों सेवाश्रम में एक और मजे की घटना हुई। उस समय भवन-निर्माण चल रहा था, इसलिये रुपये अधिक थे। सबको सावधान रहने के लिये कहा गया था। हर कमरे में दो-तीन लाठियाँ रख दी गयी थीं। छोटे स्वामीजी पूर्वाश्रम में सेना में कार्य कर चुके थे, अत: उन्होंने अपने पास रखने के लिये बन्दूक माँगा, पर बड़े स्वामीजी ने नहीं दिया। स्वयं वे ठीक से चलाना नहीं जानते थे, तो भी उन्होंने दिया नहीं। दो-तीन दिनों बाद 'नहर-कार्यालय' के पास (वृन्दावन वाले) केशवानन्द ब्रह्मचारी के आश्रम पर डाका पड़ा – डाकुओं ने साधुओं को लाठियों से मारा था और खाद्य-सामग्री तथा कुछ (५०-६०) रुपये लूट कर ले गये। इससे और भी आतंक फैला। रात को बारी-बारी से जागकर पहरा देने की व्यवस्था हुई। उसी दिन या अगले दिन रात को ग्यारह या साढ़े ग्यारह बजे होंगे। सहसा सेवाश्रम के पास ही स्थित आत्म-प्रकाश के क्षेत्र से शोरगुल, मारपीट आदि की आवाज आने लगी। सेवाश्रम में भी – 'लाठी, लाठी, डाकू, डाकू' का शोर मच गया। छोटे स्वामीजी एक भाला लेकर दौड़े (उस समय वे हॉल के बरामदे में बैठकर हिसाब लिख रहे थे) और जो जहाँ भी था, सभी लोग लाठी-सोटे आदि लेकर दौड़े या तैयार हो गये। मैंने तब भी पथ्य खाना आरम्भ नहीं किया था और बड़ा दुर्बल हो गया था। तो भी लाठी लेकर बरामदे में जा बैठा। दो-तीन बार मैंने प्रिय म. को पुकारा, पर वे नींद का भान करके पड़े रहे और कम्बल को अच्छी तरह ओढ़ लिया। वे भी बीमार और दुर्बल थे, इसीलिये उन्हें फिर पुकारा नहीं। फिर देखा छोटे स्वामीजी दौड़ते हुए लौट रहे हैं। लगा कि अवश्य डकैती पड़ी है। वे सीधे बड़े स्वामीजी के कमरे में गये और कहने लगे – "अजी सुनते हो, जल्दी बन्दूक दो। दरवाजा खोलो, जल्दी बन्दूक दो।" वे भीतर से ही बोले – "भरकर रखी है, तैयार हूँ।" परन्तु दरवाजा बिल्कुल भी नहीं खोला। छोटे स्वामीजी बड़े नाराज हुए और मेरी ओर देखते हुए बोले – "देखते हो न, खुद चलाना नहीं जानते, तो भी बन्दूक देंगे नहीं, साँकल लगाकर बैठे हुए हैं।" यह कहकर वे हाथ में भाला लिये फिर दौड़ते हुए शोर -गुल की दिशा में चले गये।

थोड़ी देर बाद सबने देखा कि छोटे स्वामीजी हँसते हुए लौट रहे हैं और बता रहे हैं कि इन चमारों ने सबको डरा दिया। बात यह हुई कि वे लोग शराब पीकर आपस में मारपीट कर रहे थे। उससे जो शोरगुल हो रहा था, उसी से हम लोगों ने भ्रमित होकर सोचा कि डकैती पड़ी है। सबके मन में डकैतों की ही बात घूम रही थी और चित्त में डर बैठा हुआ था। सभी लोग लौटकर हॉल के बरामदे में एकत्र हुए लालटेन लेकर (तब तक बिजली की बत्तियाँ नहीं लगी थीं) देखा कि प्रिय म. बड़ी दरी को खींचकर उसी से आपाद-मस्तक अपना शरीर ढँककर पड़े हुए हैं। मैं बोला – "प्रिय महाराज, यह क्या कर रहे हैं? उठिये, डाकू नहीं है।" परन्तु भीतर से केवल 'गों-गों' की आवाज आ रही थी। पूजनीय निश्चय महाराज भीतर आये और सारा मामला देखकर कहा – "देखो, देखो, लगता है डर से बेहोशी आ गयी है, जल्दी से दरी हटाओ।" दरी खींचने से थोड़ा खुलते ही आवाज आई – "मैं नहीं, मैं नहीं।" निश्चय महाराज –"हाँ, हाँ, समझ गया – यह हम लोग हैं। हाँ, हाँ, तुम्हीं, तुम्हीं, अब यह सब खोल डालो।" पर वे बोलते रहे – "मैं नहीं, मैं नहीं।"

हम लोगों के तो हँसते-हँसते पेट में बल पड़ रहे थे और सारी रात और दूसरे दिन सभी लोग – "मैं नहीं, मैं नहीं" – का मजा लेते रहे। लज्जा से प्रिय म. का टिकना कठिन हो गया। उधर बड़े स्वामीजी दरवाजा बन्द करके बैठे हुए थे। छोटे स्वामीजी मुझसे बोले – "जाकर कहो – डाकू नहीं आये और द्वार खोलकर मजा देखने आने के लिये कहो।"

धीरे-धीरे जाकर मैं बुलाने लगा, पर उनका उत्तर जरा भी समझ में नहीं आया। कमरे की पिछली खिड़की के पास गया। वहाँ से बहुत बुलाने पर खिड़की खोली, तो उन्हें सारा समाचार दिया और कहा – "छोटे स्वामीजी मजा देखने के लिए बुला रहे हैं।" बोले – "सुबह देखेंगे।" दरवाजा किसी भी हालत में नहीं खोला। सुनकर छोटे स्वामीजी हँसने लगे। बाद में पता चला कि कमरे में जितने भी काठ के पैकिंग बाक्स थे, उन्होंने उन सबको दरवाजे से लगा दिया था, ताकि डाकू अन्दर न घुस सकें।

पूज्यपाद काली महाराज (स्वामी अभेदानन्द) चले गये और मैंने गंगा के किनारे घण्टा-कुटीर में आश्रय लिया। उस

समय स्वामी पू... अपने शिष्यों के साथ कुछ दिनों के लिए घण्टा कुटीर में ठहरे थे। एक दिन निमंत्रित होकर कनखल के कोठारी उपेन के आग्रह पर यह देखने गया था कि उन्हें क्षण-क्षण निर्विकल्प समाधि हो रही है या नहीं? उनके शरीर की अवस्था देखकर जो समझा, उसमें समाधि जैसा कुछ भी नहीं था। वे एक बड़े बुरे प्रकार के डिस्पेप्सिया से कष्ट भोग रहे थे और इसी से उनके मन में अस्थिरता थी। भलीभाँति होम्योपैथी का अध्ययन करनेवाले जानते हैं कि डिस्पेप्सिया की चरम अवस्था में, आँखों में गड्ढे पड़ जाते हैं, उसके चारों ओर काला दाग पड़ जाता है, शरीर अत्यन्त जीर्ण हो जाता है, थोड़ा खाते ही पेट फूल जाता है और रोगी दो मिनट भी स्थिर होकर बैठ नहीं सकता; हिलता-डुलता रहता है, क्योंकि हिलने-डुलने से थोड़ी राहत मिलती है। मैंने उनकी समाधि तो नहीं देखी, पर औरों ने बताया कि वे सदा उसी अवस्था में रहते हैं। मास्टर महाशय के 'वचनामृत' इस विषय (समाधि) का खूब प्रचार किया है।

पुनः कलकत्ते में

कुछ दिनों बाद फिर कलकत्ते गया। इस बार सम्भवत: स्वामी सिद्धानन्द जी के बुलाने पर गया था। जाकर कुछ दिन उनके साथ उनके बड़े भाई के मकान में ठहरा – उद्देश्य था कि लाटू महाराज (स्वामी अद्भुतानन्द) के उपदेशों पर और भी सामग्री एकत्र हुई है, उन्हीं को सजाकर 'सत्कथा' (सदुपदेश) का दूसरा भाग लिखना। परन्तु कार्य बड़ा जटिल और उसमें असुविधाएँ अनेक थीं, इसलिए सिद्धानन्द महाराज की सलाह पर अपने पुराने मित्र त्रिलोचन के पास गया। बीच-बीच में वे मुझसे मिलने आते, मैं भी जाता और 'सत्कथा' लिखता। लाटू महाराज की अपनी विशिष्ट भाषा थी। यद्यपि सभी विश्वास दिलाते हैं कि ये उन्हीं की बातें हैं, परन्तु संग्रह तरह-तरह की भाषा-शैलियों में हुआ था। उन सबको लाटू महाराज की शैली में लिखना बड़े परिश्रम का कार्य था। अस्तु, उन्हीं के आशीर्वाद से काम चलने लगा।

अभेदानन्दजी की यादें

पूजनीय स्वामी अभेदानन्दजी ने मठ से कलकत्ते आकर हाल ही में मछुआ बाजार के केशव सेन स्ट्रीट में 'वेदान्त सोसाइटी' की स्थापना की थी। एक दिन दर्शनार्थ गया। उन्होंने कहा कि मैं प्रतिदिन शाम को उनके पास आऊँ और उनके साथ थोड़ा टहलने के बाद डेरे पर लौटूँ। कुछ दिनों तक वैसा ही चला। फिर एक दिन उन्होंने स्वरचित संस्कृत स्तोत्रों के दो-एक स्वकृत बँगला काव्यानुवाद सुनाया। दो-एक स्थानों पर मेरा उनके साथ मतभेद हुआ। उसके बाद मेरा प्रतिदिन का काम हो गया – सुबह एक घण्टे के लिए उनके पास जाना, उनके अनुवाद पढ़ना और कोई सुझाव हुआ तो उन्हें बताना। ... एक दिन उन्होंने बँगला में दो नये काव्यानुवाद सुनाकर पूछा – "कैसा हुआ, कुछ सुधार हुआ है या नहीं? मैं बोला – "अवश्य हुआ है।"

बोकारो की आदिवासी बालिका

कुछ दिनों से शरीर ठीक न था, ललित बाबू यह कहकर बड़े आग्रहपूर्वक अपने कर्मस्थल बोकारो (जहाँ ईस्ट इंडियन रेलवे के कोयले की खानें थीं।) ले गये कि वहाँ की जलवायु काफी अच्छी है और सेवा भी हो जायेगी।

वहाँ एक दिन घर की नौकरानी के आने में देरी हुई, तो घर की स्त्रियाँ परेशान हो गईं। बर्तन जूठे पड़े थे और मेरे लिए जल्दी भोजन तैयार करना था, अत: ललित बाबू के कहने पर कोई नौकरानी को बुलाने गया। वह रोती हुई आई। ललित बाबू ने पूछा – "रो क्यों रही हो?" वह एक संथाल आदिवासी बालिका थी, बोली – "उसके पति को पुलिस पकड़ ले गई है।" – "क्यों?" नौकरानी – "लोग कह रहे हैं कि एक मुर्गा चुराने गया था।" – "तो चोरी करते हुए पकड़ा गया है?" नौकरानी – "बाबू, हम कभी चोरी नहीं करते।" – "अरे, अभी तो कहा कि मुर्गा चोरी करने गया था!" नौकरानी – "लेकिन बाबू, हमारे यहाँ कोई चोरी नहीं करता। उसने आप लोगों से ही सब सीखा है।"

ललित बाबू बड़े क्रुद्ध होकर बोले – "क्या कहा? हमने सिखाया है?" मैंने बीच में पड़कर कहा – "नाराज मत होइये, उसने अपनी सरल भाषा में बहुत बड़ा सत्य कहा है। ये संथाल आदिवासी हैं, इनमें चोरी की वृत्ति कम होती है, बाहर के सभ्य लोगों के सम्पर्क में आकर ये चोरी सीखते हैं, डाकू बनते हैं। वर्तमान सभ्यता का अर्थ ही है – हर प्रकार का झूठ, चोरी, जाल-फरेब, आदि आदि। और ये लोग जब तक वर्तमान सभ्यता से दूर रहते हैं, तब तक यह सब नहीं जानते और नहीं करते। फिर चोरी करने लायक कोई सामान भी उनके मकान में नहीं रहता।"

गढ़वाल केदार-बद्री के पहाड़ों में देखा है कि वे मकान में ताला नहीं लगाते। सभी गाँवों में ऐसा ही है। एक गाँव की एक वृद्धा ने मुझसे कहा था – "बाबाजी, घर में आटा-दाल तो था ही, आप रोटी बना कर ले सकते थे।" अनाज, कपड़े-लत्ते, बर्तन आदि सब मकान में रहते हैं। वे दूर जंगल में खेती का काम करने जाते हैं, पर मकान में कभी ताला नहीं लगाते। चोर नहीं है। यदि चोरी होती है, तो जो मैदानी अंचल से काम करके लौटा हो, उसी को पहले पकड़ते हैं। ये लोग शहर में जाकर यह विद्या सीख आते हैं। कह सकते हैं कि यह वर्तमान सभ्यता का एक अवदान है।

ऐसा नहीं कि वैदिक या पौराणिक युग में चोरी न होती हो। यह बात उनके कानून तथा दण्ड-विधान-व्यवस्था देखकर ही समझा जा सकता है, पर वह अति अल्प मात्रा में ही थी। और कुछ खास वर्ग के लोग ही वैसा करते। चोरी वृति ही

उनका एक अवलम्बन था। अस्तु, उस नौकरानी से पूछने पर पता चला कि किसी मुसलमान मिस्त्री ने उसे एक एंग्लो-इण्डियन गार्ड के मकान से मुर्गा चोरी करने को कहा था। संथाल नशे में चूर था। वह ज्योंही मुर्गे को पकड़ने गया, मुर्गा जोर से चिल्ला उठा। तब गार्ड साहब के लोग उसे पकड़कर थाने में ले गये। मेरे अनुरोध पर ललित बाबू गार्ड को समझाकर और थानेदार को कहकर उसे छुड़वा लाये।

प्रयाग में कुम्भ (१९२४)

वहाँ (बोकारो में) करीब डेढ़ महीने रहकर काशी गया। सिद्धानन्द जी की 'सत्कथा' का द्वितीय भाग पूरा हो गया था। उसके साथ एक छोटी जीवनी लिखकर देना आवश्यक था। वह उन्हें सौंपकर सीधे ऋषीकेश जाने की बात थी। पर सभी लोग इलाहाबाद में कुम्भ (अर्धकुम्भ – १९२४) देखकर जाने के लिये जिद करने लगे। हम लोग एक बड़ी टोली के साथ इलाहाबाद गये और झूसी में जाकर ठहरे। वहाँ चार-पाँच दिन बिताने के बाद हममें से कोई काशी लौट गये, तो कोई इलाहाबाद में ही रह गये; और मैं एक छोटी-सी गुफा जैसी जगह में कुछ दिन और रह गया।

उसी समय मैंने चारु बाबू (स्वामी शुभानन्द) को पहली बार अन्नक्षेत्र में भिक्षा करना सिखाया। एक जगह गर्म-गर्म रोटी तथा हलुवा मिल रहा था। उन्हें वहीं ले गया था। उन दिनों हम 'करपात्र' (हाथों) में ही भिक्षा लेते थे। मैं उन्हें भिक्षा के लिये एक साफी या भिक्षा-पात्र ले जाने को कहना भूल गया था। जब मैंने उनसे इस बात की याद दिलाई, तो बोले – "हाथों में ही लेंगे, उन्हीं में आनन्द होगा।" हाथों में जैसे ही गर्म-गर्म रोटी और हलुआ दिया गया, वे सहन नहीं कर सके और सब धरती पर गिरा दिया। क्षेत्र के मैनेजर मुझे थोड़ा पहचानते थे। उन्हें कहकर फिर से पत्तल पर भिक्षा दिलवाया। अहा, उन्हें कितना आनन्द हुआ! सेवाश्रम की अनेक वृद्धाएँ भी वहाँ उपस्थित हुई थीं। उन सबको वे भिक्षा के आनन्द की बात सुनाने लगे और उसमें से थोड़ा-थोड़ा सबको देने लगे। उस समय उनकी अवस्था देखने लायक थी। जीवन में पहली बार उन्होंने अपने हाथों में भिक्षा ली थी। झूसी में रहते समय सेवाश्रम की व्यवस्था आदि के बारे में उनके साथ काफी चर्चा हुई थी। बहुत-सी बातें – उनकी धारणा थी कि उनके प्रति अन्याय हुआ है। बार-बार कहते – "कहाँ भाई, इतने दिन सेवा-कार्य किया, चित्तशुद्धि आदि कुछ भी तो समझ में नहीं आता। मन को स्थिर करके उन्हें पुकार नहीं पाता, शुद्ध होने से तो मन में स्थिरता आ जाती! आप क्या कहते हैं?"

मैं भला क्या कहता! हम दोनों ही तो साधन-पथ की एक ही नौका में थे। सम्भवत: इसीलिये शांकर-मतावलम्बी लोग कर्मत्याग की बात कहते हैं – सभी कर्मों को छोड़ने के लिए कहते हैं, परन्तु उसमें भी भय है। मन जगदम्बा की कृपा से ही पूरी तौर से स्थिर होता है अर्थात् यदि वे कृपा करके अपनी माया का आवरण हटा लें, तो मन स्थिर होता है, ज्ञान भी होता है और सब कुछ हो जाता है।

मेरठ की आध्यात्मिक अनुभूति

इलाहाबाद से पुन: काशी लौटा और मेरठ से निमंत्रण पाकर वहाँ गया। उस समय मेरठ में बड़ी गर्मी थी। डॉक्टर घोष के छोटे जमाई कालीबाबू का अतिथि होकर रहा। सेवा में कोई कमी न थी। खस की टट्टियाँ लगी थीं, उन पर पानी छिड़कने की व्यवस्था थी, दिन में तीन बार स्नान की व्यवस्था थी और ठण्डाई शर्बत की भी व्यवस्था थी, लेकिन प्राण निकल रहे थे। उन दिनों मन ध्यान-धारणा में बड़ा तल्लीन था। एक दिन सुबह ध्यान से उठने के बाद भोजन करने जा रहा था, तो देखा कि पाँव शराबी की भाँति डगमगा रहे हैं। कुमार महाशय और मैं एक साथ भोजन करने बैठे थे। मुझे होश नहीं थी कि मैं खा रहा हूँ या नहीं। हाथ को ठीक-ठीक मुँह तक नहीं ले जा पा रहा था। शायद इसीलिए कुमार की मातृरूपा गृहिणी मुझे खिलाने बैठीं।

मुझे स्पष्ट याद आ रहा है। मैं बोला – "देखिये, देखिये, रीढ़ की हड्डी से क्या उठ रही है – आग, गरम – वह आधी दूर तक उठी है (उन्होंने हाथ लगाकर देखा सचमुच ही आधी दूर तक जैसे लोहे की कड़ाही तपाने से गर्म होता है, वैसा ही उनके हाथ तक में महसूस हो रहा है – तप्त-लौह-कटाहवत् उष्ण।) इसके बाद गर्मी गर्दन तक आ गई। (वे भोजन करा नहीं सकीं।)

इसके बाद एक रॉकेट की तरह ज्योति का प्रकाश फैला – A Flash of light ... । इसके बाद होश आने पर देखा – मुख और सिर एक स्निग्ध ज्योति से आलोकित हो रहा है। शरीर एक ओर पड़ा है। केवल इतना ही बोध हो सका। सभी लोग मेरे पास खड़े होकर कुछ पूछ रहे थे, परन्तु कुछ सुनाई नहीं दे रहा था और बोलने की इच्छा भी नहीं हो रही थी। भीतर एक शान्त भाव था, जिसे आनन्द या निरानन्द – कुछ भी नहीं कहा जा सकता। ... रात को प्यास लगने पर मैंने इशारे से पानी माँग लिया।

दूसरे दिन सुबह ऐसा बोध हुआ मानो गहरी निद्रा से उठा हूँ, परन्तु उठने की शक्ति नहीं थी, हाथ-पाँव हिलाने की भी क्षमता का अभाव बोध हो रहा था – केवल बातें कह पा रहा था और सुन सकता था। बोध-शक्ति ठीक थी। मुख-मण्डल स्वयं पहले के समान ही ज्योतिर्मय देख रहा था, अर्थात् ज्योति मानो विकिरित हो रही थी, जैसे प्रकाश आकर फर्श पर पड़ता है, वैसा ही दिखाई दे रहा था। अन्तर निश्चिन्त और शान्त था। तब सुना – होश ६-७ घण्टे बाद लौटा था। डॉक्टर सारे समय उपस्थित थे। सिर तथा रीढ़ की हड्डी

पर बर्फ लगाया जा रहा था। सारी रात ऐसा ही चलता रहा। सुबह जब उठा तब भी सिर पर बर्फ बँधी हुई थी। मैंने रीढ़ की हड्डी और मूलाधार पर भी बर्फ घिसने को कहा। मूलाधार तो इतना गर्म था कि डॉक्टर ने हाथ लगाते ही हटा लिया। डॉक्टर ने अपना मत देते हुए कहा कि यह सब यौगिक है और पथ्य की व्यवस्था करके चले गये। परन्तु उस समय एक 'तांत्रिक क्रिया' करते ही वह उष्णता कम हो जाती थी। उसकी विधि ज्ञात होने से मुझे सहायता मिली।

करीब डेढ़ महीने इसी अवस्था में पड़ा रहा। अहा! उन दिनों इन पति-पत्नी ने कितनी सेवा की थी! सारे दिन और सारी रात बर्फ लगानी पड़ती थी। खाने-पीने का कोई ठीक न था, क्योंकि होश आने पर खाता। अधिकांश समय अर्ध-चेतन (Semi-conscious) दशा में पड़ा रहता था। ज्योति के समुद्र में तैर रहा था – शान्त, स्निग्ध ज्योति-समुद्र में।

उसी अवस्था में एक दिन दोपहर को एक अलौकिक दर्शन हुआ – Crucified Christ (क्रूसविद्ध ईसा) का! मूर्ति स्पष्ट चमक रही थी। ईसा की बात सोची भी नहीं थी या उस समय किसी ने उनकी चर्चा भी नहीं की थी – सहसा यह दर्शन हुआ। मैंने सुना, कोई मानो स्पष्ट कह रहा था – "Crucification of the passion of Christ." (ईसा मसीह की कामनाओं को शूली पर चढ़ा देना)। मैंने कहा – "क्या?" फिर वही बात सुनाई दी और मूर्ति अदृश्य हो गई।

मेरी अवस्था में परिवर्तन हुआ। उस दिन अच्छी तरह बातें कर सका, भोजन कर सका और सुने हुए उस वाक्य का अर्थ सोचने लगा। इसी समय पहली बार विचार करने की क्षमता आयी। मेरी धारणा हुई – Crucification (शूली पर चढ़ाने) का सच्चा अर्थ है – Crucification of the flesh (शरीर को शूली पर चढ़ाना) है। और इस flesh (शरीर) का अर्थ है – passion (कामनाएँ)। Crucify the flesh – (शरीर अर्थात् कामना को शूली पर चढ़ा दो)। ईसाई लोग कहते हैं कि इसका जो अर्थ है, वस्तुतः ईसा का crucification (शूली पर चढ़ाना) भी वही है। और Jesus on the cross – (सलीब पर ईसा) इसी "The crucification of the passion of christ" (ईसा मसीह की कामनाओं को शूली पर चढ़ाने) की सांकेतिक प्रस्तुति है।

इसके बाद वैसे स्वस्थ रहते हुए भी हाथ-पैरों में शक्ति नहीं थी। सहारे से चलना पड़ता और बीच-बीच में पहले जैसी अवस्था हो जाती, तब कई बार भीतर में होश रहता, बातें सुन पाता, परन्तु मन में कोई विचार नहीं उठता या बोल नहीं पाता। फिर कभी-कभी कुछ भी सुन नहीं पाता, मन में भी कोई विचार नहीं उठता – मानो एक शान्त ज्योतिः समुद्र में तैर रहा हूँ या कभी-कभी मुख-मण्डल ज्योति से उद्भासित रहता। उस समय ऐसा था कि कोई क्रोधित होकर, या तीव्र ईर्ष्या का भाव लेकर, या मन में काम-वासना का भाव लेकर मुझे स्पर्श करता या पास आता, तो अग्नि की भाँति ज्वलन्त प्रवाह मेरुदण्ड से होकर तीव्र गति से ऊपर उठता और सारा शरीर आग की तरह गर्म हो जाता। तब जल्दी-जल्दी ठण्डे जल से स्नान और बर्फ का प्रयोग करने से वह कभी-कभी सिर तक नहीं उठता – पीठ के बीच तक पहुँचकर घण्टों तक के लिये ठहर जाता, पर उसमें इतना कष्ट नहीं होता।

पहले-पहले तो बेहोश होने की अवस्था हो जाती और सिर तक चढ़ने पर तो बेहोश ही हो जाता। उस समय मूलाधार[१] बहुत गर्म रहा करता। सारे शरीर के ठण्डे हो जाने पर भी और निरन्तर बर्फ लगाने पर भी वह ठण्डा नहीं होता। यहाँ तक कि एक दिन ८-१० हाथ दूर खड़े रसोइये ब्राह्मण ने झूठ बोला, तो मेरुदण्ड से होकर पूरा शरीर गर्म हो गया।

तब मुझे चिन्ता हुई और मैंने यह बात पूजनीय शरत् महाराज को सूचित किया। उत्तर में उन्होंने लिखा कि यह बात श्रीमाँ को बता दी है और उन्होंने स्वयं ठाकुर से प्रार्थना की है कि तुम शीघ्र स्वस्थ हो जाओ और यह कष्ट दूर हो जाय। बाद में यह एक विषम समस्या हो उठी। नौकर-चाकर और यहाँ तक कि गृहस्वामी तक मेरे पास आने में डरने लगे। श्री जगदम्बा के अनुग्रह से इसके थोड़ा कम होते ही मैं वाराणसी गया और वहाँ सेवाश्रम में ठहरा।

धारचूला का आश्रम

धारचूला (अल्मोड़ा) में उस समय एक नया आश्रम बन रहा था। निमंत्रण मिलने पर अल्मोड़ा होकर वहाँ गया। सोचा था कि हिमालय की पवित्र शान्त गोद में शान्तिपूर्वक रहूँगा, क्योंकि आश्रम गाँव से दूर के निर्जन में नदी के तट पर था। परन्तु कुछ महीनों बाद ही रूमा देवी और अ... के बीच नित्य ऐसा कलह होने लगा कि मेरे लिए वह सहन करना या वहाँ ठहरना कठिन हो गया। इसी बीच मेरी जाँघ में एक तरह का Eczema (एग्जिमा) हुआ। उससे पानी निकलता और कपड़ा भीग जाता। कई तरह के उपचार करने पर भी उसे ठीक न होते देख वहाँ से विदा लेकर चिकित्सा के लिए मैं मायावती गया। ...

❖ (क्रमशः) ❖

१. रीढ़ की हड्डी का निचला भाग

ईशावास्योपनिषद् (६)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने वर्षों पूर्व रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सत्संग-भवन में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने ने किया तथा वक्ता की पूर्ण सहमति से इसका सम्पादन एवं संयोजन स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है।)

प्रति क्षण यदि हम देखें तो पायेंगे कि हमारा जीवन सत्य के आधार पर चल रहा है। किन्तु यह सापेक्ष-सत्य है। इस सापेक्ष सत्य को लेकर हमारा जीवन चलता है। सापेक्ष सत्य को छोड़कर एक दिन भी हमारा जीवन नहीं चल सकता।

दुकान से हम दूध लेकर आये। आपने एक नोट दूकानदार को दे दी है। वह अच्छी तरह से समझ लेता है कि यह नोट असली है, नकली नहीं है, सत्य है। आपको भी यह विश्वास है कि इस दूध के पैकेट में दूध ही है, दूसरी कोई चीज नहीं है। किन्तु दोनों को अगर सन्देह हो जायेगा, तो न वह दूध बेच सकेगा और न ही आप दूध खरीद सकेंगे। जगत् का व्यवहार इस आधार पर चलता है। यदि हम विचार करके देखेंगे तो आप में और हममें जो लोग सत्य के जितने निकट हैं, उनका जीवन उतना ही सुलझा हुआ है। सत्य का ज्ञान व्यक्ति के जीवन को सरल और सहज बना देता है। जो व्यक्ति अपने व्यक्तित्व से जितना परिचित होता जाता है, उसका जीवन उतना ही सहज सफल होता जाता है। अपने स्वभाव के सम्बन्ध में कि कौन-सी परिस्थिति हमें क्रुद्ध करती है और कौन-सी आनन्द देती है, विभिन्न परिस्थितियों में हमारी क्रिया-प्रतिक्रिया क्या है, इसका जितना अधिक ज्ञान जिस व्यक्ति को होता है, वह उतना ही अधिक सफल होता है। ऐसा सापेक्ष सत्य में होता है। किन्तु जिस व्यक्ति को परम सत्य का ज्ञान हो जाता है, उसका जीवन परम धन्य हो जाता है। जीवन का आधार सत्य ही है, इसलिये उसके जीवन में पूर्ण सफलता आयेगी ही। इसलिये आवश्यक है कि हम शास्त्रों का, उपनिषदों का अभ्यास करें, क्योंकि ये हमें सत्य की सूचना देते हैं। ये हमें बताते हैं कि जीवन का चरम सत्य क्या है। जीवन के व्यावहारिक सत्यों की सूचना भी ये शास्त्र हमें देते हैं। अगर इस चरम सत्य और व्यावहारिक सत्य का ज्ञान हमें मिल जाय, तो जीवन बहुत सुलभ और सरल हो जायेगा। समुद्र में बड़े-बड़े जहाज जाते हैं, वैज्ञानिकों ने सारे समुद्र को नाप रखा है, जिनके पास पूरी सूचना है, वे बन्दरगाह पर लग जाते हैं। किन्तु यदि बड़े जहाज के पास अगर पूरी सूचना नहीं है, तो वह बीच में ही डूब सकता है। हमारा जीवन भी इसी प्रकार भव-सागर में तैर रहा है। यह जीवन रूपी नौका इसलिये मिली है कि हम भव-सागर से पार हो जायँ। पार होने का सबसे सुलभ, सहज मार्ग क्या है? यह शास्त्रों में बताया गया है। किन्तु यदि हम अपने ही मन से विचार करके चलेंगे, शास्त्रों का आधार नहीं लेंगे, तो जैसे बड़े से बड़ा जहाज भी सागर में डूब जाता है, हमारा जीवन भी वैसे ही इस भवसागर में डूब जायेगा। इसलिये उपनिषद हमको कहता है – ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्। इसको विस्तार से समझने का प्रयास करेंगे। अब हम अपने अनुभव के आधार पर इस पर विचार करेंगे।

छान्दोग्य उपनिषद में आरुणि ऋषि और उनके पुत्र श्वेतकेतु की एक कथा आती है, जो पिता-पुत्र का वार्तालाप है। वे गृहस्थ थे। हमारे बहुत से ऋषि गृहस्थाश्रमी थे। इसलिये स्वप्न में भी हमको नहीं सोचना चाहिये कि हम तो गृहस्थ हैं, हमसे क्या होगा? प्रश्न यह नहीं है कि आप गृहस्थ हैं या संन्यासी हैं या ब्रह्मचारी हैं। प्रश्न यह है कि आपके जीवन का लक्ष्य क्या है? और उस जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति के लिये आप कितने कटिबद्ध हैं, कितना मूल्य देने के लिये प्रस्तुत हैं? अगर एक गृहस्थ उस मूल्य को देने के लिये तत्पर है, तो उसे उस सत्य की प्राप्ति हो जायेगी। उसको ब्रह्मज्ञान हो जायेगा। अगर एक संन्यासी उस मूल्य को देने को प्रस्तुत नहीं है, तो संन्यासी का जीवन वह भले ही बिता दे, पर उसे लक्ष्य की प्राप्ति कभी नहीं होगी। मूल प्रश्न है कि हम जीवन में जो चाहते हैं, उसके लिये क्या कर रहे हैं। आरुणि अपने पुत्र को ब्रह्मविद्या बता रहे हैं। उस समय जंगलों के पास छोटे-से गाँव भी थे। प्राय: लोग जंगलों में जाकर साधना करते थे। आरुणि एक विशाल वटवृक्ष के नीचे बैठे हैं और उनका पुत्र जानना जाहता है कि सत्य क्या है? उपनिषद तो बता रहा है कि यह सम्पूर्ण जगत ईशावास्यम् है, ईश्वरमय है। किन्तु श्वेतकेतु को यह बात समझ में नहीं आयी। उसके पिता ने एक वट का फल लेकर उसे तोड़ने को कहा। ऋषि पूछते हैं, इसमें तुम्हें क्या दिखता है? श्वेतकेतु कहता है, इसमें छोटे-छोटे बीज हैं। ऋषि एक बीज उठाने को कहते हैं और नाखून से उसको तोड़ने को कहते हैं। उसने सरसों से भी छोटे उस वट के बीज को तोड़ा। ऋषि ने पूछा, उस टुटे हुये बीज में क्या दिखता है? श्वेतकेतु ने कहा इसमें तो कुछ नहीं दिखता है। उस कुछ नहीं दिखने वाले बीज में ही यह विशाल वट-वृक्ष समाया हुआ था। तब

ऋषि कहते हैं कि इसी बीज से इतना बड़ा यह वट-वृक्ष हो गया है। उसी बीज में यह सारा वृक्ष समाया हुआ था। अब प्रगट हो गया है। इसी तरह ऋषि कहते हैं कि, 'पुत्र श्रद्धस्व सौम्य इति' – हे प्रिय इस पर विश्वास करो कि जैसे न दिखने से भी इस बीज के अन्दर यह सारा वटवृक्ष समाहित था। वैसे ही इस जगत का तत्त्व यह है कि न दिखने वाले सत्य में ही यह ब्रह्माण्ड समाहित है। इस जगत में प्रत्येक वस्तु का एक बाहरी रूप है और एक आन्तरिक, भीतरी रूप है। यदि आन्तरिक रूप की उपेक्षा करके केवल बाह्य रूप की हम उपासना करेंगे, तो हमारे जीवन का अर्ध विकास होगा। आधा का अर्थ ही अपूर्ण होता है। इससे तो आधा जीवन, आधा सुख, आधी शान्ति, सब कुछ आधा हो जायेगा। जीवन अशान्त और अपूर्ण हो जायेगा। जीवन की पूर्णता के लिये यह परम आवश्यक है कि बाहर और भीतर दोनों को जाना जाय। पदार्थ, वस्तु या किसी भी चीज के बाहर और भीतर जानने का काम थोड़ा कठिन है। क्योंकि वह बाहर है, हमारे लिये 'वह' है, इदं, यह नहीं है। अदः पूर्णं, इदं पूर्णं – वह भी पूर्ण है, यह भी पूर्ण है, ऐसा हमने कहा था। अब हम इदं के भी दो-दो भाग करें। मैं यहाँ बैठा हूँ और प्रवचन सुनने के लिये आप उधर बैठे हैं। यदि मुझे आपको समझना हो तो करोड़ों जन्म में भी मैं आपको समझ नहीं सकूँगा। क्योंकि आप मुझसे बाहर हैं। पर इदं से शुरु करूँ, अपने आप से समझने के लिये प्रयास करूँ, तो हो सकता है कि इसी जन्म में मैं अपने आपको समझ जाऊँ। जो व्यक्ति इस इदं को बाहर से ही समझना चाहता है, उसको समझने में बड़ी कठिनाई होती है, वह समझ नहीं पाता है। हमारे शास्त्रों में यह भीतर का तत्त्व बताया गया है।

मैंने जो कुर्ता पहना है, उसको अगर निकाल दूँ, तो मेरी देह दिखने लगेगी, इससे क्या मैं भीतर का समझ सकूँगा? क्या मुझे मुक्ति मिलेगी? नहीं। तो इससे बात नहीं बनती। अगर मैं कहूँ कि मैं भीतर क्या हूँ, वह देखने के लिये मेडिकल कॉलेज में जाकर अपने शरीर का, या दूसरे के शरीर का विच्छेदन देखूँगा, शरीर खोलकर देखूँगा, तो क्या इससे भीतर का स्वरूप प्रकट होगा? नहीं, इससे भी बाहर का स्वरूप ही दिखेगा। भीतर का स्वरूप तो इन्द्रियों से परे है। जो इन्द्रियों से दिखता है, वह बाहर का स्वरूप है।

जो कुछ इन्द्रियों से जाना जाय, वह बाहरी ज्ञान है। इन्द्रिगम्य ज्ञान से मिली हुई सूचना के आधार पर जीवन को पूर्ण नहीं बनाया जा सकता है। जीवन का जो भीतर का भाग है वह इन्द्रियातीत सत्य है। उस इन्द्रियातीत सत्ता का अनुभव करने के पश्चात् ही भीतर की पूर्णता का बोध होगा। यदि एक बार भीतर की पूर्णता का ज्ञान हो जाय, तो बाहर की पूर्णता अपने आप प्रगट हो जायेगी, तब बाहरी भाग, हमारे ज्ञान में सहयोगी हो जायेगा, विरोधी नहीं। किन्तु जब तक भीतर की पूर्णता की तरफ हमारा ध्यान नहीं है, केवल बाहरी रूप में हमारा ध्यान है, तब तक यह दृष्टि हमको देह-भित्तिक, इन्द्रियलम्पट बनाती है और इससे जीवन में कभी भी सच्चा सुख नहीं मिल सकता है।

ऋषि कहते हैं श्रद्धस्व – श्रद्धा करो, विश्वास करो। उपनिषद हमसे कहते हैं कि भीतर का भी एक रूप है, जिसे हम दूसरी वस्तुओं में नहीं देख सकते, अपने आप में ही देख सकते हैं। विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिखाया है कि जो कुछ दिख रहा है, वास्तव में वह वैसा नहीं है। जैसे एक 'टेबल' – यदि हम किसी भौतिक विज्ञानी से पूछेंगे, तो वे कहेंगे कि यह तो इसका बाहरी रूप है, वह ऐसा दिख रहा है, किन्तु वस्तुतः ऐसा है नहीं। इसके भीतर अणु है। अणु भी सत्य नहीं है। इसमें भी परमाणु है, इलेक्ट्रान्स, प्रोट्रान्स है। अब तो यह भी कहते हैं कि यह पदार्थ है या ऊर्जा है। आज का भौतिक विज्ञान (physics) हमें यह बताता है कि पदार्थ को पदार्थ कहने की हमारी क्षमता नहीं है। क्योंकि वह ऊर्जा भी है और यह ऊर्जा कभी भी पदार्थ में बदल जाती है। ऐसा जो अनिश्चित जगत है, उसकी सत्यता जानने के लिये प्रयत्न करना होगा। वह प्रयत्न क्या है?

ऋषि कहते हैं कि हमारे भीतर एक ऐसी सत्ता है, जो कभी परिवर्तित नहीं होती है। उसका ही नाम है 'चैतन्य'। चैतन्य में बुद्धि की शक्ति होती है, निर्णय की शक्ति होती है, वह कर्ता होता है। जैसे यह टेबल स्वयं नहीं हट सकता। मैं किसी को कहकर इस टेबल को दूर हटाऊँगा। यदि इस देह से प्राण निकल जाय तो यह टेबल और देह एक जैसे हो जायेंगे। कोई शव या लाश इस टेबल को नहीं हटा सकता। हमारे भीतर एक सत्ता है जिसने हमारे जड़ देह को प्राणवान बनाकर रखा है। इसी के कारण हम निर्णय लेते हैं, हमें ज्ञान होता है। इन सबके पीछे एक चैतन्य शक्ति है। यह चैतन्य शक्ति सत्-चित्त-आनन्द है। जीवन का अनुभव बताता है कि हमारे भीतर एक चैतन्य सत्ता है। जिसको यह सब अनुभव हो रहा है, उस पर विश्वास करना होगा, उसे ढूँढ़ना होगा, उसका अनुभव करना होगा। सारा जीवन इस चैतन्य को जानने का प्रयास करें, इसी में जीवन की सार्थकता है।

आइने के सामने खड़े होकर एक बार सोचें कि जो कुछ आइने में दिख रहा है, क्या मैं उतना ही हूँ? आप यह कभी स्वीकार नहीं करेंगे कि जितना आप आइने में दिख रहे हैं, उतना ही आप हैं। बाहर से हम यह नहीं कह सकते कि 'यह मैं हूँ'। भीतर से आप जानते हैं कि 'मैं इससे कुछ अलग हूँ, मैं इससे कुछ अधिक हूँ'। जो यह कुछ अधिक है, वह हमारा भीतरी या आन्तरिक स्वरूप है। यह भीतर का तत्त्व ही चैतन्य है, आत्मा है। ❖ **(क्रमशः)** ❖

मद्रास की कुछ अन्य घटनाएँ

स्वामी विदेहात्मानन्द

(अब तक आपने पढ़ा कि कैसे १८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द जी ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। उस समय वे वहाँ के अनेक लोगों – विशेषकर खेतड़ी-नरेश राजा अजीत सिंह के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। तदुपरान्त वे कन्याकुमारी तथा मद्रास पहुँचे और वहाँ से अमेरिका जाने की तैयारी करने लगे। बाद में उनकी अमेरिका-यात्रा और सम्पूर्ण जीवन-कार्य में राजस्थान और विशेषकर खेतड़ी-नरेश का क्या स्थान तथा योगदान रहा – क्रमश: इन सभी विषयों पर सविस्तार चर्चा होगी। – सं.)

मद्रास में सुदीर्घ प्रवास का कारण

१८९२ ई. के दिसम्बर में ही रामनाद के राजा भास्कर सेतुपति द्वारा स्वामीजी को यूरोप-अमेरिका-यात्रा हेतु दस हजार रुपये देने का प्रस्ताव किये जाने के बावजूद स्वामीजी ने मार्च (१८९३) में प्रस्थान की योजना बनायी थी। इस प्रकार मद्रास में तीन महीने ठहरने का क्या कारण हो सकता है? विभिन्न तथ्यों का विश्लेषण करने पर ऐसा लगता है कि उनके इस सुदीर्घ प्रवास का मुख्य कारण था – थियॉसाफिकल सोसायटी के अध्यक्ष कर्नल आल्काट से मिलना और एक परिचय-पत्र प्राप्त करना। कर्नल आल्काट जनवरी, फरवरी तथा मार्च के मध्य तक दौरे पर थे। यही कारण था कि स्वामीजी ने खेतड़ी-राजा को अपने १५ फरवरी के पूर्वोल्लेखित पत्र में लिखा था – "अत: दो या तीन सप्ताह में मैं यूरोप जा रहा हूँ। ... मेरे इंग्लैंड आदि जाने की बात को गोपनीय रखें।"

अब यहाँ थियॉसाफिकल सोसायटी तथा इसके अध्यक्ष कर्नल आल्काट का भी थोड़ा परिचय देना आवश्यक प्रतीत होता है।

थियॉसाफिकल सोसायटी

मैडम हेलेना ब्लावस्टकी इस संस्था की जन्मदात्री थीं। इन रूसी महिला का दावा था कि तिब्बत के गुप्त अंचलों के निवासी कुछ महात्माओं ने उन्हें ज्ञान दिया है और उन्हीं के निर्देशानुसार वे उसका प्रचार करने हेतु विश्व का भ्रमण करते हुए काहिरा, पेरिस होती हुईं १८७४ ई. में अमेरिका पहुँचीं।

उन दिनों अमेरिका में गूढ़ अध्यात्म-विद्या पर काफी चर्चा तथा शोध चल रहा था। कर्नल हेनरी आल्काट ने भी परलोक के जीवों के विषय में एक पुस्तक लिखी थी। वे मैडम ब्लावस्टकी के प्रभाव में आये और दोनों ने मिलकर न्यूयार्क में ७ सितम्बर १८७५ ई. के दिन थियॉसाफिकल सोसायटी की स्थापना की। कर्नल इसके अध्यक्ष तथा मैडम इसकी सचिव हुईं। कई वर्षों तक कार्य में कुछ प्रगति नहीं हुई। फिर मैडम को महात्माओं से गुप्त आदेश मिला कि वे भारतवर्ष को अपना कार्यक्षेत्र बनायें। १८७९ ई. में दोनों भारत आकर मुम्बई में ठहरे। फिर श्रीलंका जाकर बौद्ध धर्म स्वीकार किया। १८८२ ई. वे मद्रास के उपनगरीय क्षेत्र में स्थित अड्यार में चले गये। वहीं १८९० ई. में इसकी राष्ट्रीय शाखा की स्थापना हुई।

मैडम ब्लावस्टकी ने अपने इंग्लैंड-प्रवास के दौरान 'सीक्रेट डाक्ट्रिन' (गुप्त सिद्धान्त) नामक एक ग्रन्थ लिखा। इससे प्रभावित होकर एक विदुषी महिला श्रीमती एनी बेसेंट उनकी शिष्या बन गयीं। मैडम लोगों को गुप्त सिद्धान्त की दीक्षा देने लगीं। इसमें दीक्षित होने के लिये हर सदस्य को दो व्रतों का पालन करना पड़ता था – (१) थियॉसाफी के सिद्धान्तों पर चलना तथा उनका प्रसार करना और (२) कक्षाओं में प्राप्त ज्ञान को गुप्त रखना। इंग्लैंड में मैडम द्वारा शिष्य बनाने का कार्य शुरू होने पर कर्नल आल्काट ने इस पर अपनी असहमति जतायी। तब उन्हें गोपनीय रीति से हिमालय से महात्मा का पत्र मिला कि 'कर्नल का कार्यक्षेत्र केवल संगठन तक ही सीमित रहेगा और केवल मैडम ब्लावस्टकी को गुप्तविद्या के प्रचार का अधिकार होगा। मैडम के देहान्त के बाद यह अधिकार एनी बेसेंट को मिला। वे १८९३ ई. में भारत आयीं और १८९८ में आल्काट की मृत्यु के बाद सोसायटी की अध्यक्ष बनीं। इस संस्था की लगभग १४०० शाखाएँ और ३५ हजार सदस्य हैं। इसका अड्यार का मुख्यालय २६६ एकड़ भूमि में फैला हुआ है। यहाँ का ग्रन्थालय भारत के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थालयों में एक हैं। इसमें ताड़पत्रों पर लिखित ग्रन्थों की संख्या ही लगभग १२ हजार है।[१]

कर्नल आल्काट से परिचय-पत्र

स्वामीजी जब मद्रास पहुँचे, उन दिनों यह भारत तथा विश्व के बुद्धिजीवियों में लोकप्रिय एक प्रमुख संस्था थी। उपरोक्त सोसायटी की शाखाएँ तथा सदस्य पूरे विश्व में फैले हुए थे और स्वामीजी के अधिकांश मद्रासी मित्र तथा अनुरागी भी उस संस्था और उसके अध्यक्ष कर्नल आल्काट के साथ

१. भारतीय संस्कृति कोश (मराठी), पुणे, खण्ड ४, सं. १९९४, पृ. २४९-२५३

घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए थे। स्वामीजी के भक्तों ने सोचा कि चूँकि वे एक सुदूर अनजान देशों – यूरोप, अमेरिका की यात्रा पर जा रहे हैं, अत: यदि उनके लिये कर्नल आल्काट से यदि एक परिचय-पत्र ले लिया जाय, तो वह उन देशों में उनके कार्य में काफी उपयोगी सिद्ध होगा; और कोई समस्या या आपदा आने पर उक्त संस्था के लोग सहायक हो सकेंगे।

इस सिलसिले में स्वामीजी तथा उनके अनुरागी कई बार अड्यार स्थित 'सोसायटी' के मुख्यालय में गये, परन्तु उन्हें पता चला कि कर्नल आल्काट मार्च के मध्य में ही मद्रास लौटेंगे, अत: सबने यही सोचा कि तब तक प्रतीक्षा करना ही उचित होगा। इसी बीच एक और महत्त्वपूर्ण घटना हुई – रामनाद के राजा भास्कर सेतुपति यात्रा-व्यय देने के अपने वचन से पीछे हट गये और फरवरी के अन्त में खेतड़ी से मुंशी जगमोहन लाल भी आ पहुँचे। खेतड़ी के राजा का निमंत्रण पाकर भी स्वामीजी तत्काल वहाँ के लिये प्रस्थान न कर सके, इसका भी एक कारण तो वही था – स्वामीजी के लिये थियॉसाफिकल सोसायटी के अध्यक्ष कर्नल आल्काट से एक परिचय-पत्र प्राप्त करना। और एक अन्य नया कारण था – उनके अनुरागी तथा भक्तगण उनके मार्गव्यय हेतु चन्दे द्वारा धन एकत्र कर रहे थे।

अड्यार स्थित थियॉसाफिकल सोसायटी की 'थियॉसाफिस्ट' पत्रिका के मार्च (१८९३) अंक में, मि. डब्ल्यू. आर. ओल्ड द्वारा अंग्रेजी में लिखित[२] एक संक्षिप्त परन्तु रोचक समाचार प्रकाशित हुआ था, जिसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है –

''संस्थापक अध्यक्ष (कर्नल आल्काट) तथा मि. एज की अनुपस्थिति में जो नीरस दैनन्दिन दिनचर्या चल रही थी, वह बड़े सुखद ढंग से – थियॉसाफिस्टों तथा मित्रों के विविध सम्मिलनों द्वारा भंग हुई। संन्यासी सच्चिदानन्द की मद्रास में उपस्थिति तथा कई बार थियॉसाफिकल सोसायटी के मुख्यालय में आगमन ने वहाँ काफी आकर्षण की सृष्टि की थी। संन्यासी में महान् बहुमुखी प्रतिभा है। पाली, संस्कृत, अंग्रेजी, फ्रांसीसी तथा हिब्रू भाषाओं का पूर्ण ज्ञान भी उनकी अनेक उपलब्धियों में शामिल है। वे कोलकाता विश्वविद्यालय के एम.ए हैं। इसके साथ ही प्रकृति ने उन्हें सुदृढ़ शरीर तथा मर्यादित व्यक्तित्व भी प्रदान किया है। उन्होंने काफी भ्रमण किया है और अन्य स्थानों के अलावा तिब्बत के लासा तथा अन्य नगरों की भी यात्रा की है। विचारों की दृष्टि से वे शंकराचार्य के अनुयायी हैं। परन्तु अपने पुण्य सम्प्रदाय से वे इस मामले में भिन्न हैं कि वे दूर-दूर की यात्रा करते हैं, लोगों से मुक्त भाव से मिलते हैं और धर्म तथा दर्शन पर व्याख्यान तथा चर्चाएँ करते हैं। इन संन्यासी के श्रोताओं में मद्रास के सर्वश्रेष्ठ बुद्धिजीवी भी हैं और उन्होंने दिखा दिया है कि वे पाश्चात्य दर्शन के तर्कों में भी समान रूप से सक्षम हैं और आधुनिक विज्ञान में भी विशेष गति रखते हैं। सच्चिदानन्द ने हमारे मुख्यालय में हुए "localization" (लोकलाइजेशन) तथा "impression-reading" (इम्प्रेशन-रीडिंग) के कुछ प्रयोगों पर आनन्द व्यक्त किया।''

उपरोक्त समाचार में कुछ तथ्यगत भूलें हैं। जहाँ तक हमें ज्ञात है स्वामीजी पाली तथा हिब्रू भाषाएँ नहीं जानते थे। उन्होंने केवल बी.ए. तक की पढ़ाई की थी और वे स्वयं कभी तिब्बत नहीं गये थे। परन्तु इससे यह महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है कि मार्च के पहले ही स्वामीजी कई बार थियॉसाफिकल सोसायटी के मुख्यालय में जा चुके थे।

कर्नल से मुलाकात

सर्वप्रथम प्रश्न उठता है कि स्वामीजी कर्नल आल्काट से कब मिले थे? कर्नल आल्काट की प्रकाशित डायरी के पन्नों से ज्ञात होता है कि वे सुदीर्घ दौरे के बाद १६ मार्च को कलकत्ते से मद्रास लौटे थे और ९ अप्रैल को उन्होंने पुन: रंगून के लिये प्रस्थान किया था।[३] चूँकि स्वामीजी मद्रास में उन्हीं के लिये प्रतीक्षा कर रहे थे, अत: सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि यह भेंट १७/१८ मार्च (१८९३) को या मोटे तौर पर कहें तो मार्च के तीसरे सप्ताह में हुई। लेखक ने मदुरै के रामकृष्ण मिशन के स्वामी यतात्मानन्द की सहायता अड्यार के उक्त संस्था के मुख्यालय में संरक्षित कर्नल आल्काट की डायरियों से कुछ जानकारी प्राप्त करने का प्रयास किया था।[३] सोसायटी के पुराभिलेखागार से पत्र-व्यवहार करने से पता चला कि उन डायरियों में इस भेंट का उल्लेख तक नहीं है। कारण स्पष्ट है – यह भेंट थोड़ी अप्रिय-सी हुई थी। श्री पी. वेंकटराम अय्यर ने २७ जुलाई १९०२ ई. को बैंगलोर में स्वामीजी की स्मृति में आहूत एक सभा की अध्यक्षता करते हुए इस घटना के बारे में कहा था – ''जब स्वामीजी तथा एक अन्य व्यक्ति के साथ भेंट हुई, मैं उस समय उपस्थित था। ये दूसरे व्यक्ति भी निष्काम भाव से जनहित के कार्य में लगे हुए थे। बातचीत एक गरम विवाद में परिणत हो गया। इन दूसरे व्यक्ति ने जब स्वामीजी पर कुछ व्यक्तिगत टिप्पणियाँ कीं, तब स्वामीजी ने अभिव्यक्तिपूर्ण कुछ ही शब्दों में उनकी निन्दावाद को शान्त कर दिया। इस घटना ने मुझे बड़ा विस्मित कर दिया और मैंने देखा कि वे एक कैसे अद्भुत व्यक्ति हैं।''[४]

---

२. स्वामी विवेकानन्द ओ समकालीन भारतवर्ष (बँगला), शंकरीप्रसाद बसु, खण्ड १, पृ. १००-०१

३. Old Diary Leaves, H.S. Olcott, 5th Series (Jan 93 to Apl. 96), Adyar, Madras, Ed. 1932, p. 29 & 33

४. The Life of Swami Vivekananda, Eastern & Western Disciples, Mayavati, Ed. 1918, Vol 4, Pp. 319-20

१८९७ ई. में जब स्वामीजी भारत लौटे, तो थियॉसाफिकल सोसायटी के संचालकगण अमेरिका तथा इंग्लैंड में उनके कार्य में सहायता करने का दावा कर रहे थे। उस समय स्वामीजी ने स्पष्टीकरण हेतु ९ फरवरी को मद्रास में ही 'मेरी क्रान्तिकारी योजना' विषय पर व्याख्यान देते हुए उन्होंने स्वयं ही अर्नल आल्काट से हुई अपनी इस भेंट का कुछ विवरण दिया था – "आज से चार वर्ष पहले जब मैं अमेरिका जा रहा था – सात समुद्र पार, बिना किसी परिचय-पत्र के, बिना किसी जान-पहचान के, एक निर्धन, मित्रहीन, अज्ञात संन्यासी के रूप में – तब मैंने थियॉसाफिकल सोसायटी के नेता से भेंट की। स्वभावत: मैंने सोचा था कि जब ये अमेरिकावासी हैं और भारत-भक्त हैं, तो सम्भवत: अमेरिका के किसी सज्जन के नाम मुझे एक परिचय-पत्र दे देंगे। किन्तु जब मैंने उनके पास जाकर इस प्रकार के परिचय-पत्र के लिये प्रार्थना की, तो उन्होंने पूछा, 'क्या आप हमारी सोसायटी के सदस्य बनेंगे?' मैंने उत्तर दिया, 'नहीं, मैं किस प्रकार आपकी सोसायटी का सदस्य हो सकता हूँ? मैं तो आपके अधिकांश सिद्धान्तों पर विश्वास नहीं करता।' उन्होंने कहा, 'तब मुझे खेद है, मैं आपके लिये कुछ भी नहीं कर सकता।' "[५]

कर्नल आल्काट ने स्वामीजी को परिचय-पत्र देना तो दूर पग-पग पर उनके मार्ग में काँटे बिछाने का प्रयास किया। रोमाँ रोलाँ ने लिखा है कि कर्नल आल्काट ने अपने मित्रों से स्वामीजी का परिचय तो नहीं ही करा दिया, बल्कि उन्होंने उन लोगों को उनके सम्बन्ध में सावधान कर दिया था।[६]

बाद में मुंशी जगमोहनलाल ने भी राजा अजीतसिंह को अपने पत्र में इस घटना की सूचना दी थी, सम्भवत: उसी का उल्लेख करते हुए अपने ११ अप्रैल के पत्र के पहले बिन्दु के रूप में ही राजा लिखते हैं – "स्वामीजी एक ऐसे व्यक्ति के वचन पर निर्भर रहे, जिन्हें बहुत भला आदमी नहीं कहा जा सकता।" (पूरा पत्र बाद में उद्धृत होगा)। वर्तमान लेखक का अनुमान है कि वह थियॉसाफिकल सोसायटी के अध्यक्ष कर्नल आल्काट के सन्दर्भ में ही है।

मद्रास में धर्मचर्चा

स्वामीजी के मद्रास में लगभग तीन माह के निवास के दौरान जो घटनाएँ हुईं, उनकी कुछ झलकियाँ हम देते आये हैं, इस विषय में जो सामग्री उपलब्ध है, उसे प्रस्तुत करने के लिये एक छोटे-मोटे ग्रन्थ की आवश्यकता होगी। तथापि यहाँ हम उस काल की कुछ और महत्त्वपूर्ण बातें दे रहे हैं –

डॉक्टर नंजुंदा राव से भगिनी देवमाता को स्वामीजी के मद्रास-प्रवास की एक बड़ी रोचक घटना सुनने को मिली थी। वे लिखती हैं – "एक बार अपराह्न के समय डॉ. नंजुंदा राव किसी थियॉसाफिस्ट मित्र से मिलने अड्यार गये हुए थे। वहाँ उन्होंने देखा कि हाल ही में आये एक अमेरिकी सदस्य मेज की दराजों की सफाई कर रहे थे। एक कोने में उन्होंने जलाने हेतु बेकार की वस्तुओं की ढेरी लगा रखी थी। उन्हीं में उन्हें एक साधु का चित्र दिखाई दिया। डॉ. नंजुंदा राव ने झुककर उसे उठा लिया और बोले – 'यह किसी महात्मा का चित्र है। इसे आपको इस प्रकार फर्श पर नहीं फेंकना चाहिये।' अमेरिकी ने कहा – 'ओह, कौन जाने यह किसका चित्र है और हमें यहाँ से कुछ बेकार की चीजें हटाकर जगह बनानी है।' डॉक्टर बोले – 'तो फिर मैं इस चित्र को ले जाता हूँ।' वे उस चित्र को अपने घर ले आये और उसे काँच से मढ़वाकर अन्य महापुरुषों के चित्रों के साथ टाँग दिया।

"जब स्वामी विवेकानन्द मद्रास आये, तो डॉ. नंजुंदा राव ने एक दिन उन्हें अपने घर भोजन के लिये आमंत्रित किया। उस समय कोई भी नहीं जानता था कि स्वामी विवेकानन्द के गुरु कौन हैं। किसी के उनके विषय में पूछने पर वे सर्वदा यही कहते – 'मैं उनका इतना निकृष्ट प्रतिनिधि हूँ कि मुझमें उनका नाम तक बोलने की योग्यता नहीं है।'

"भोजनवाले दिन जब स्वामीजी वहाँ पधारे, तो उन्हें उस कमरे में ले जाया गया, जिसमें बहुत सारे चित्र टँगे हुए थे। वहाँ प्रतीक्षा करते समय वे कमरे में घूमकर चित्रों को देखने लगे। सहसा वे चौंक उठे और उस अड्यार वाले चित्र के समक्ष स्थिर होकर खड़े हो गये। उस कक्ष में उपस्थित लोगों ने देखा कि उनकी आँखों में आँसू भर आये और उनके गालों से होकर बहने लगे। उन लोगों ने विस्मित होकर पूछा – 'स्वामीजी, उस चित्र में ऐसा क्या है, जिसे देखकर आप इस प्रकार भाव-विभोर हो गये?' वे पलटे और अत्यन्त भावुक स्वर में बोल उठे – 'ये ही मेरे गुरुदेव श्रीरामकृष्ण हैं।' "[७]

डॉ. एम. सी. नंजुंदाराव ने स्वामीजी के मद्रास-प्रवास की अपनी अनेक स्मृतियाँ अंग्रेजी मासिक 'वेदान्त-केसरी' के १९१४ से १९१६ के ७ अंकों में प्रकाशित करायी थीं। उनमें से कुछ चुने हुए अंश प्रस्तुत हैं – "धन्य हैं वे कुछ लोग, जिन्हें कुछ दिनों के लिये ही सही, स्वामीजी के चरणों में बैठकर अपने धर्म, इतिहास और पाश्चात्य व्यवस्था से बिल्कुल भिन्न सामाजिक रीतियों आदि के विषय में सुनने का सौभाग्य मिला था। नीचे सुदूर तक फैले समुद्र के नीले जल और ऊपर उससे भी अधिक नीले आकाश के सामने, मद्रास के समुद्र-तट पर, सैन-थोम के निकट स्थित, तत्कालीन उप-महा-लेखाकार श्री भट्टाचार्य के बँगले (अब रहमत बाग) में, स्वामीजी के पास असंख्य प्रशंसक मित्रों तथा कॉलेज के

५. विवेकानन्द साहित्य, प्रथम संस्करण, खण्ड ५, पृ. १०४

६. युगनायक विवेकानन्द, तृतीय सं. भाग १, पृ. ३६२

७. Days in an Indian Monastery, Sister Devmata, Madras, Ed. 2003, p. 190-91

छात्रों के साथ होनेवाली शान्त किन्तु उत्साहपूर्ण सांध्य गोष्ठियों को भूल पाना वस्तुत: असम्भव है। मार्च या अप्रैल १८९३ में खुली हवा में होनेवाली ऐसी ही एक गोष्ठी में किसी ने पूछा था – 'स्वामीजी, श्रीकृष्ण को नीले रंग में क्यों चित्रित किया जाता है?'' स्वामीजी उस समय दूर-दूर तक फैली जलराशि की ओर एकाग्र भाव से देख रहे थे। वे सहसा पलटकर बोले, ''इसलिये कि नीला अनन्त का रंग है। अपने पास के आकाश को देखो; यह वर्णहीन है। परन्तु अपने ऊपर फैले सुदूर आकाश में देखो; वह नीला है। समुद्र के जल को हाथ में लेकर देखो; यह वर्णहीन है। परन्तु दूर तक फैला हुआ समुद्र नीला है। अपने आसपास की पृथ्वी को देखो; वह किसी रंग का होगा। परन्तु दूर स्थित विशाल पर्वत नीला दिखायी देता है। इसलिये प्रकृति में सर्वत्र व्याप्त होने के कारण श्रीकृष्ण को नीले रंग में चित्रित किया जाता है और वे अनन्त के प्रतीक हैं।' स्वामीजी के शब्दों को हू-ब-हू प्रस्तुत कर पाना असम्भव है, परन्तु उस दिन संध्या को उन्होंने जो कुछ कहा उसका सारांश यही है।

''एक कॉलेज के प्राध्यापक ने पूछा – 'हिन्दू धर्म के मूल तत्त्व क्या हैं?' और स्वामीजी ने तुरन्त उत्तर दिया – 'हिन्दू धर्म के तीन मूल तत्त्व हैं – (१) ईश्वर में (२) ईश्वर-प्रेरित के रूप में वेदों में और (३) कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास। हिन्दू धर्म तथा अन्य धर्मों के बीच मूल भेद यह है कि इसमें हम भ्रम से सत्य की ओर नहीं, अपितु सत्य से सत्य की ओर आगे बढ़ते हैं – निम्नतर सत्य से उच्चतर सत्य की ओर। यदि कोई वेदों का गम्भीर अध्ययन करे, तो उनमें उसे समन्वय-धर्म प्राप्त होगा। विकासवाद का चश्मा लगाकर वेदों का अध्ययन करना होगा। उनमें धार्मिक विकास का वह पूरा इतिहास है, जब तक कि धर्म अपनी पूर्णता – अद्वैतवाद तक नहीं पहुँच गया। ऐसा कोई भी धार्मिक विचार नहीं हो सकता, जो पहले से ही हिन्दू धर्म में न हो।' ...

''वर्तमान हिन्दू धर्म केवल छूतवाद में परिणत हो गया है। इस देश में या तो पश्चिम के प्रति उदासीनता का भाव है, या फिर हिन्दू धर्म के पाश्चात्य अध्येताओं के विकृत उपदेशों के अनुसार केवल सामाजिक ही नहीं, धर्म के विषय में भी नकल की प्रवृत्ति। अन्त में स्वामीजी ने इन शब्दों में सावधान करते हुए अपने कथन का उपसंहार किया, 'यदि जरूरी हो, तो अपने सामाजिक रीतियों को सुधारो, विधवाओं का विवाह करो, यदि जाति-प्रथा की उपयोगिता न रह गयी हो तो उस पर आघात करो, परन्तु धर्म का परित्याग मत करो। सामाजिक मामलों में व्यक्ति उदार हो सकता है, परन्तु धर्म के मामले में उसे कट्टर होना चाहिये।' ''[८]

८. Vedanta Kesari, July 1914, Pp. 91-93 तथा विवेकानन्द साहित्य, प्रथम संस्करण, खण्ड १, पृ. २८७-३०५

एक अन्य दिन का विवरण देते हुए खेतड़ी के मुंशीजी का भी उल्लेख करते हुए डॉ. राव ने लिखा है – ''सुहावनी चाँदनी रात थी। स्वामीजी मद्रास के समुद्र-तट पर स्वर्गीय भट्टाचार्य जी के बँगले के बरामदे में बैठे थे और खेतड़ी-महाराज के निजी सचिव मुंशी जगमोहनलाल से बातें कर रहे थे। खेतड़ी-नरेश ने इन मुंशीजी को स्वामीजी की खोज में भेजा था और यह ताकीद दी थी कि स्वामीजी जहाँ भी मिलें, उन्हें खेतड़ी ले आओ, ताकि नवजात राजकुमार उनका आशीर्वाद प्राप्त कर सके। करीब वर्ष भर पूर्व जब स्वामीजी खेतड़ी में थे, तो खेतड़ी-नरेश ने अपने राज्य के उत्तराधिकारी के रूप में एक पुत्र प्राप्त करने का आशीर्वाद उनसे माँगा था। स्वामीजी ने भावाविष्ट होकर नरेश को 'तथास्तु' कहकर वरदान भी दिया था। इसी वरदान के फलस्वरूप खेतड़ी-नरेश को एक पुत्र हुआ। अत: स्वाभाविक था कि महाराजा स्वामीजी को किसी भी तरह से खेतड़ी में एक बार लाना चाहते थे, क्योंकि बिना स्वामीजी को देखे उन्हें चैन न थी।

''मैं अपने दफ्तर के काम से निपटकर रोज की तरह स्वामीजी के पास गया और उन्हें साष्टांग प्रणाम करके बैठ गया। इतने में वे अपनी अपूर्व शैली में शिवाजी की प्रशंसा में एक हिन्दी गीत गाने लगे, जिसकी अन्तिम दो पंक्तियाँ इस प्रकार थीं – **दावा द्रुमदंड पर चीता मृगझुंड पर, भूषण वितुंड पर जैसे मृगराज है। तेज तम अंश पर कान्ह जिमि कंस पर, त्यों मिलेछ बंश पर शेर शिवराज है।।** – अर्थात् 'जैसे वन-कान्तारों के लिए दावानल, हरिणों के झुण्ड के लिए चीता, सजे-धजे हाथियों के लिए सिंह, अन्धकार के लिए सूर्य और कंस के लिए कृष्ण, वैसे म्लेच्छों के लिए शेर शिवाजी हैं!' बाद में मुझे मालूम हुआ कि वह एक लम्बा गीत था। परन्तु मैंने तो अपने स्कूल के दिनों में यही पढ़ा था कि शिवाजी एक चालाक, अविवेकी लुटेरे थे, 'नीच कुलोत्पन्न डाकू' थे, बटमार और धोखेबाज हत्यारे थे। अत: उनकी प्रशस्ति में स्वामीजी को गीत गाते हुए देख मैं अपने को रोक न सका और बीच में ही टोकते हुए बोल बैठा, ''स्वामीजी! आप जो शिवाजी की प्रशंसा में पंक्तियाँ गा रहे हैं, यह क्या उचित है? क्या यह सच नहीं कि शिवाजी भाग्य के वरदपुत्र मात्र थे और वस्तुत: वे बटमार थे, जिन्होंने अपने-जैसे लोगों को इकट्ठा करके चालाकी और धूर्तता से एक साम्राज्य की स्थापना की थी?'' मेरा इतना कहना था कि स्वामीजी ने गाना बन्द कर दिया और मेरी ओर घूरती हुई नजरों से देखा। उनका चेहरा रोष से तमतमा उठा और वे बोले, ''तुम्हें धिक्कार है डॉक्टर! तुम मराठा हो, फिर भी भारत ने पिछले तीन सौ वर्षों में जो श्रेष्ठतम राजा पैदा किया, उसके बारे में इतना ही जानते हो! अरे, शिवाजी तो साक्षात् शिव के अवतार थे। उनके जन्म से बहुत पहले ही

उनके विषय में भविष्यवाणियाँ कर दी गयी थीं। महाराष्ट्र के सभी साधु-महात्माजन म्लेच्छों से हिन्दुओं का उद्धार करनेवाले इस महावीर के आविर्भाव की घड़ियाँ गिन रहे थे। जो धर्म आततायी मुगलों की लूट-खसोट से पैरों-तले रौंदा गया था, उसकी उन्होंने फिर से प्रतिष्ठा की। जिन विदेशियों की तुम्हारे प्रति कोई सहानुभूति नहीं और न जिन्हें तुम्हारी संस्कृति, परम्पराओं तथा रीति-रिवाजों में कोई आस्था हो सकती है, क्योंकि वे यह सब समझ नहीं पाते, उनके द्वारा लिखे भारतीय इतिहास को पढ़ने का यही परिणाम होता है। क्या शिवाजी से अधिक वीर, अधिक धर्मात्मा, अधिक भक्त और अधिक बड़ा राजा और कोई हुआ है? तुम्हारे पुराणों और महाकाव्यों में जन्मजात नरेशों के जो लक्षण बताये गये हैं, शिवाजी उनके जीवन्त विग्रह थे। वे भारत के सच्चे सपूत थे और राष्ट्र की चेतना के सच्चे प्रतिनिधि थे।"[९]

ऐसी ही एक गोष्ठी का वर्णन करते हुए डॉ. नंजुंदा राव लिखते हैं – "रात का समय था। सागर तट पर स्थित श्री भट्टाचार्य के बँगले में मधुर चाँदनी फैली हुई थी। स्वामीजी उस समय अपनी सर्वश्रेष्ठ मन:स्थिति में थे। उनका चेहरा ऐसा दमक रहा था, ऐसा लग रहा था मानो उनके मुखमण्डल से ज्योति-रश्मियाँ निकलकर उनके चारों ओर आभा-मण्डल की सृष्टि कर रही हैं। कुछ समय पूर्व ही वे वह हृदय-स्पर्शी भजन गा रहे थे – **'तेरी गति लखि न पड़े'**, जिसका उन्होंने स्वयं ही मुक्त अनुवाद किया था – 'हे प्रभो, आपके कार्य हमारी समझ के परे हैं।' वह महान् भजन जगदम्बा की इच्छा के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण तथा शरणागति का द्योतक था। गद्गद भाव से उन्होंने इस भजन के एक-एक वाक्य का अनुवाद किया और उस संध्या को एकत्र होनेवाली पूरी टोली उनका गाना समाप्त होने तक मंत्रमुग्ध हो सुनती रही। भजन समाप्त होने के बाद एक विस्मय-बोधक असीम निस्तब्धता फैल गयी और वह तभी भंग हुई जब स्वामीजी ने पुन: अपना मुँह खोला और बोलना आरम्भ किया। वे बताने लगे कि किस प्रकार कभी-कभी उन पर एक आध्यात्मिक शक्ति का आवेश होता है और तब उन्हें बोध होता है कि वे भीतर से बिल्कुल बदल गये हैं और अपने सम्पर्क में आनेवाले किसी भी व्यक्ति के जीवन को रूपान्तरित कर डालने में समर्थ हैं। वे कहते रहे – ऐसे समय उन्हें महसूस होता है कि उनके शरीर के अंग-प्रत्यंग से ऊर्जा निकलकर आसपास की चीजों की ओर प्रवाहित होती हुई उन्हें प्रभावित करती है। उस समय स्वामीजी यदि किसी को स्पर्श करें, तो उसे समाधि की अनुभूति होगी और वह उसके रहस्यों को समझ लेगा, तत्काल ही संसार के प्रति आसक्ति छूट जायेगी और उसे हजार वर्षों की साधना का फल प्राप्त हो जायेगा।

"स्वामीजी ने ज्योंही यह बात पूरी की, त्योंही सहसा एक श्रोता उठा और उसने स्वामीजी की ओर अग्रसर होकर उनके दोनों पाँव पकड़ लिये। ये थे श्री सिंगरावेलु मुदलियार, जो उन दिनों मद्रास क्रिस्चियन कॉलेज में भौतिक विज्ञान के प्राध्यापक थे और बाद में स्वामीजी द्वारा स्नेहपूर्वक दिये गये 'किडी' नाम से सुपरिचित हुए। ये महाप्राण तथा निष्ठा की प्रतिमूर्ति थे और जो परिणाम की परवाह किये बिना, निर्भय साहस के साथ अपने निश्चय को कार्य रूप में परिणत करते थे। उनके द्वारा चरण पकड़ लेने पर स्वामीजी ने दोनों हाथों से उन्हें पकड़कर आशीर्वाद दिया और बोले – 'यह तुमने क्या किया? तुमने जल्दबाजी में ऐसा कदम क्यों उठाया? खैर, अब इसका चाहे जो भी परिणाम हो, तुम उनसे बच नहीं सकोगे।' ठीक तभी हम सबने देखा कि सिंगरावेलु के चेहरे पर परम तृप्ति का आलोक खिल उठा है। उस पल उन्हें क्या अनुभूति हुई थी, इस विषय में कोई नहीं जानता, क्योंकि काफी अनुरोध के बावजूद उन्होंने इस विषय में कुछ बताया नहीं, परन्तु यह बात तो स्पष्ट हो उठी थी कि उस दिन से वे एक पूर्णत: भिन्न व्यक्ति हो गये थे। उन्होंने संसार का – अपने स्त्री-पुत्र आदि सबका – यहाँ तक कि प्राध्यापक के कार्य को भी त्याग दिया और तब से उन्होंने केवल स्वामीजी का ही कार्य करना आरम्भ कर दिया। जो लोग उन्हें जानते थे, उन सभी को याद है कि कैसे वे अपने जीवन के अन्तिम पल तक घण्टे-पर-घण्टे साधना तथा ध्यान में निमग्न रहते हुए एक संन्यासी का जीवन बिता गये हैं।"[१०]

मद्रास से विदाई

आपस में चर्चा के बाद आखिरकार निश्चित हुआ कि स्वामीजी पहले मुम्बई जाकर अपनी अमेरिका-यात्रा के लिये जलयान में स्थान का आरक्षण करायेंगे। तदुपरान्त वे खेतड़ी जाकर पुत्रोत्सव में भाग लेने के बाद पुन: मुम्बई से जलयान में अमेरिका के लिये प्रस्थान करेंगे। स्वामीजी निकट भविष्य में मद्रास लौटनेवाले नहीं थे, अत: उनके अनुरागियों ने उनके दो फोटो बनवाये। लगभग तीन माह तक मद्रास में निवास के दौरान स्वामीजी का वहाँ के सैकड़ों लोगों से परिचय और कई दर्जन लोगों से घनिष्ठता हो चुकी थी, अत: विदाई के समय दृश्य कैसा भावभीना हो उठा होगा, इसकी हम सहज ही कल्पना कर सकते हैं। तब तक जो भी धन एकत्र हो चुका था, उसे टिकट कटाने हेतु स्वामीजी को सौंप दिया गया। इस प्रकार अप्रैल के प्रथम सप्ताह में वे अपने शिष्यों तथा अनुरागियों से विदा लेकर मुंशी जगमोहन लाल के साथ मुम्बई के लिये रवाना हुए। ❖ **(क्रमशः)** ❖

९. Vedanta Kesari, November 1914, Pp. 218-19 (इस लेखमाला का अनुवाद 'विवेक-ज्योति' त्रैमासिक के वर्ष १९७२-७३ के छह अंकों में प्रकाशित हुआ है।)

१०. Vedanta Kesari, Vol 1, No 6, October 1914, Pp. 186-87
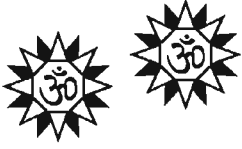
त्रिवेन्द्रम में स्वामी विवेकानन्द (२)
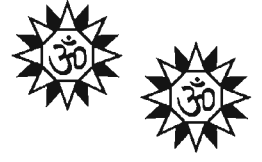
के. सुन्दरराम अय्यर

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया । उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत संस्मरण अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से गृहीत तथा अनुवादित हुआ है। – सं.)

स्वामीजी के निवास के तीसरे या चौथे दिन मैंने उनके अनुरोध पर श्री मन्मथनाथ भट्टाचार्य की खोज की, जो उन दिनों मद्रास के उप-महा-लेखाधिकारी (डिप्टी एकाउंटेंट-जनरल) थे और रेजीडेंट के खजाने में हुए गबन के आरोप की जाँच-पड़ताल करने त्रिवेन्द्रम आये हुए थे। तब से स्वामीजी सुबह का समय भट्टाचार्य के घर पर ही व्यतीत किया करते और वहीं दोपहर का भोजन भी कर लेते। इसलिये एक दिन मैंने इस बात पर उनके समक्ष आपत्ति जतायी और दुर्भाग्यवश उस समय उन्हें रोक रखने के लिये उनके पास एक आगन्तुक भी उपस्थित था। स्वामीजी ने जब देखा कि मैं उन्हें छोड़ने के लिये कितना अनिच्छुक हूँ, तो उन्होंने एक ऐसा उत्तर दिया, जो उन्हीं के मुख से शोभता है। वे बोले – "देखिए, हम बंगाली लोग जरा आपस में मिलकर रहना पसन्द करते हैं।" उन्होंने यह भी कहा कि भट्टाचार्य महाशय उनके स्कूल या कॉलेज के सहपाठी[१] रह चुके हैं और कलकत्ता संस्कृत कॉलेज के प्राचार्य सुविख्यात पण्डित स्वर्गीय महेश चन्द्र न्यायरत्न के सुपुत्र होने के कारण उनका स्वामीजी पर अतिरिक्त अधिकार बनता है। ...

स्वामीजी ने बताया कि भारत के प्राचीन ब्राह्मण मांसाहारी थे, परन्तु बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव तथा प्रसार के फलस्वरूप क्रमश: मांसाहार की प्रथा का लोप हो गया, वैसे सिद्धान्त की दृष्टि से देखें तो हिन्दू शास्त्रों ने सर्वदा शाकाहार को ही प्राथमिकता दी है। परन्तु समग्र प्राचीन हिन्दू जाति की राष्ट्रीय शक्ति में क्रमश: ह्रास और उसके द्वारा शासित राज्यों की स्वाधीनता खो जाने के प्रमुख कारणों में एक है – मांसाहार का परित्याग। ... स्वामीजी ने मुझे अपना मत बताते हुए कहा था कि वर्तमान विश्व में, विभिन्न राष्ट्रों के बीच सत्ता और महत्ता के लिए जो संघर्ष चल रहा है, उसमें यदि भारत को अपना अस्तित्व बचाये रखना है, तो हिन्दुओं को निश्चित रूप से मांसाहार अपना लेना चाहिए। ...

एक संध्या को स्वामीजी पूर्व-निर्धारित समय पर दीवान से मिलने गये। उस समय भी न जाने कैसे यही प्रसंग उठा। दीवान ने भी मेरे ही जैसे विचार व्यक्त किये और यहाँ तक कहा कि प्राचीन काल में यज्ञ के लिये, न तो कभी पशुओं की बलि दी गयी और न ही उनके मांस का उपयोग किया गया। इससे कुछ विवाद की सृष्टि हुई, जिसमें दीवान के दामाद तथा उनके सचिव श्री ए. रामियार ने यज्ञ में मांस के उपयोग के विषय में स्वामीजी का पक्ष लिया। स्वामीजी ने दीवान के साथ भक्ति पर भी थोड़ी चर्चा की। यह विषय कैसे उठा और स्वामीजी ने इस पर क्या कहा – इसका विवरण मेरी स्मृति से पूर्णत: लुप्त हो चुका है। दीवान श्री शंकर सुब्बियार अपने समय के परम विद्वानों में थे और उस ५८ साल की परिपक्व आयु में भी सभी प्रकार की पुस्तकों के एक जिज्ञासु पाठक थे और इस प्रकार अपने विशाल ज्ञान-भण्डार में प्रतिदिन वृद्धि कर रहे थे। परन्तु स्वामीजी उनसे मिलकर ज्यादा प्रभावित नहीं हुए और दीवान के पास भी दीर्घ वार्ता के लिये समय नहीं था। अत: हम लोगों ने विदा ली। स्वामीजी के विदा लेते समय दीवान ने उन्हें आश्वस्त किया कि पूरी रियासत में वे जहाँ कहीं भी जायेंगे, उनकी हर आवश्यकता की पूर्ति की जायेगी और हर स्थान पर उनका ध्यान रखा जायेगा। परन्तु स्वामीजी को किसी चीज की आवश्यकता नहीं थी और उन्होंने कुछ माँगा भी नहीं।

मैंने पहले भी एक सज्जन का उल्लेख किया है, जिन्होंने एक दिन सुबह स्वामीजी को अपने बंगाली मित्र श्री भट्टाचार्य के पास जाने से रोक लिया था। ये सज्जन थे त्रिवेन्द्रम के हुजूर दफ्तर के नायब दीवान या पेशकार श्री पिरावी पेरुमल पिल्लै। सम्भवत: वे यह जानने आये थे कि स्वामीजी भारत तथा अन्य देशों के विभिन्न सम्प्रदायों तथा धर्मों के बारे में क्या जानते हैं और उन्होंने अद्वैतवाद के विरुद्ध अपनी आपत्तियाँ प्रस्तुत करते हुए बातचीत आरम्भ की। परन्तु वे शीघ्र ही समझ गये कि स्वामीजी एक महान् आचार्य हैं और उनकी मन की गहराइयों तथा ऊँचाइयों की थाह लगाने में समय बरबाद करने के स्थान पर, यथाशक्ति उनके ज्ञान-

१. श्री शैलेन्द्रनाथ धर लिखित जीवनी के अनुसार श्री मन्मथनाथ भट्टाचार्य स्वामीजी के सहपाठी नहीं थे, अथवा त्रिवेन्द्रम में मिलने के पूर्व उनसे स्वामीजी की घनिष्ठ मित्रता भी नहीं थी। (पृ. ३६९)

भण्डार से प्रेरणा ग्रहण करना ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसी समय मुझे स्वामीजी की एक ऐसी दुर्लभ क्षमता देखने को मिली, जिसके द्वारा वे क्षण भर में ही किसी अति आत्म-विश्वासी आगन्तुक के बौद्धिक सीमा को माप लेते और उसके अनजाने ही उसे एक ऐसे उपयुक्त वैचारिक स्तर पर ले आते, जहाँ से वह उनके मार्ग-दर्शन तथा प्रेरणा का लाभ उठा सकता था। (१८९७ ई. के मार्च में चेन्नै के मेरीना बीच पर स्थित कैसल कर्नन में नौ दिनों के उनके सुप्रसिद्ध निवास के दौरान भी मुझे उनकी यह क्षमता देखने को मिली थी।) इस अवसर पर स्वामीजी ने 'ललित-विस्तर' से उद्धरण देते हुए बुद्ध के वैराग्य का वर्णन करनेवाले कुछ श्लोकों का इतने मधुर तथा आनन्ददायी स्वर में पाठ किया कि आगन्तुक का हृदय विगलित हो उठा। और वह शीघ्र ही चुपचाप सुनने की मन:स्थिति में आ गया। तब स्वामीजी ने कुशलतापूर्वक इस अवसर का उपयोग करते हुए बुद्ध के महान् त्याग, सत्य की उनकी अदम्य खोज, अन्त में उसकी प्राप्ति और हर जाति-वर्ग तथा स्तर के नर-नारियों के बीच ४५ वर्षों का उनका अथक धर्म-प्रचार के भाव उसमें मन में स्थायी रूप से अंकित कर दिया। यह चर्चा लगभग घण्टा भर चली और अन्त में आगन्तुक ने भाव-विभोर होकर स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि उस काल के दौरान वे जीवन की तुच्छ चीजों तथा अभिमान के परे चले गये थे। विदा के समय उन्होंने स्वामीजी के चरणों में बारम्बार भक्तिपूर्ण प्रणाम किया और घोषित कर गये कि उन्होंने जीवन में कभी उनके जैसा व्यक्ति नहीं देखा और अपने जीवन को गहराई से प्रभावित करनेवाली इन बातों को वे कभी विस्मृत नहीं करेंगे। ...

उस दिन तथा अगले दिन विभिन्न विषयों पर चर्चा उठी और उन पर मुझे स्वामीजी के विचार जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई। उनमें से बहुत-सी बातें विस्मृत हो चुकी हैं, परन्तु दो बातें अब भी स्पष्ट रूप से याद आ रही हैं। एक बार मैंने उनसे एक सार्वजनिक व्याख्यान देने का अनुरोध किया। स्वामीजी ने कहा कि उन्होंने कभी जनता के बीच भाषण नहीं दिया है और प्रयास करने पर वे निश्चय ही दयनीय तथा हास्यास्पद सिद्ध होंगे। इस पर मैंने पूछा कि यदि ऐसी बात है, तो फिर वे शिकागो की धर्म-महासभा के विराट् श्रोतृ-मण्डली का कैसे सामना कर सकेंगे? (क्योंकि) उन्होंने मुझे बताया था कि मैसूर के महाराजा ने उनसे वहाँ हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में वहाँ उपस्थित रहने का अनुरोध किया है। उस समय स्वामीजी ने मुझे जो उत्तर दिया, उस समय तो वह मुझे निश्चित रूप से टालनेवाला ही प्रतीत हुआ। वे बोले – यदि परमेश्वर की इच्छा हुई कि मैं उनका प्रवक्ता बनकर जगत् का सत्य तथा पवित्र जीवन की दिशा में मार्ग-दर्शन करूँ, तो वे निश्चित रूप से मुझे इस कार्य के लिये आवश्यक क्षमता तथा गुणों से सम्पन्न करेंगे।''

मैंने कहा – ''मैं ऐसी किसी दैवी हस्तक्षेप की सम्भावना में विश्वास नहीं करता।'' यद्यपि उन दिनों मुझे हिन्दू धर्म के केन्द्रीय तथा मूलभूत मतवादों में काफी श्रद्धा थी, तथापि न तो मैं इसके शास्त्रों का अध्ययन करके उनमें निहित मूलभूत तत्त्वों का ज्ञान ही कर सका था और न मुझे उन मतवादों का इतना व्यावहारिक ज्ञान ही था, जो मुझे स्वामीजी के वक्तव्य में निहित सत्य का बोध करा पाते। उन्होंने तत्काल घन-प्रहार की भाँति मेरा तिरस्कार करते हुए बता दिया कि यद्यपि मैं अपने दैनन्दिन आचारों तथा व्यवसाय से कट्टर हिन्दू जैसा हूँ, तथापि हृदय से सन्देहवादी हूँ, क्योंकि मैं विश्व-ब्रह्माण्ड के कार्यों में सहायता पहुँचाने में परमात्मा की क्षमताओं के विषय में एक सीमा-रेखा खींच देने को तैयार हूँ।

एक अन्य समय भी भारतीय प्रजाति-विज्ञान के एक अति महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर हम दोनों के बीच मतभेद हुआ था। स्वामीजी का विचार था कि जहाँ कहीं श्याम वर्ण का ब्राह्मण मिले, वहाँ स्पष्ट रूप से समझ लेना होगा कि वह उसके पूर्वजों में द्रविड़-रक्त के सम्मिश्रण का लक्षण है। इस पर मैंने कहा कि शरीर का रंग मूलत: मनुष्य का एक परिवर्तनशील लक्षण है और यह काफी कुछ उसकी जलवायु, भोजन, वह छत के नीचे कार्य करता या खुले में, आदि बातों पर निर्भर करता है। स्वामीजी ने मेरे मत को काटते हुए कहा कि संसार की अन्य मानव-जातियों की भाँति ही ब्राह्मण भी मिश्र वर्ण के हैं और अपने वर्ण की शुद्धता का उनका विश्वास कोरी कल्पना मात्र है। मैंने उनका विरोध करते हुए भारतीय जातियों की विशुद्धता के विषय में सी. एल. ब्रेस आदि आधिकारिक विद्वानों के मत उद्धृत किये। परन्तु स्वामीजी टस-से-मस नहीं हुए और अपने मत पर अटल रहे।

अब मुझे जल्दी ही अपनी स्मृति-कथा समाप्त करनी है। परन्तु एक बात का उल्लेख किये बिना मैं नहीं रह सकता और वह यह है कि स्वामीजी जब तक हमारे घर में ठहरे, उन्होंने हमारे परिवार के हर सदस्य का हृदय विमोहित कर रखा था। हममें से हर एक के प्रति उनका व्यवहार परम मधुर, अत्यन्त मृदु और सौजन्यता से परिपूर्ण था। मेरे लड़के प्राय: ही उनके साथ रहा करते और उनमें से एक तो अब भी उनका अनुरागी है और बड़ी स्पष्टता के साथ उनके हमारे घर में आगमन तथा उनके सम्मोहक व्यक्ति की मधुर बातों का स्मरण किया करता है। स्वामीजी ने तमिल भाषा के भी अनेक शब्द सीख लिए थे और हमारे ब्राह्मण रसोइये के साथ तमिल बोलकर आनन्द लेते थे। कभी ऐसा नहीं लगता कि हमारे बीच कोई अजनबी ठहरा हुआ है। उनके विदा हो जाने के बाद कुछ दिनों तक तो ऐसा लगता मानो हमारे घर का प्रकाश ही चला गया हो।

जब २२ दिसम्बर (१८९२ ई.) के दिन स्वामीजी अपने बंगाली मित्र श्री भट्टाचार्य के साथ मेरे घर से प्रस्थान करने ही वाले थे, तभी एक उल्लेखनीय घटना हुई। ज्ञान की सबसे दुरूह शाखा – संस्कृत व्याकरण के विद्वान् तथा अपने सभी परिचितों के बीच अपनी धर्मनिष्ठा, विद्वत्ता तथा विनम्रता के लिये अत्यन्त सम्मानित पण्डित वंचीश्वर शास्त्री त्रावंकोर रियासत के प्रथम राजकुमार के आश्रित थे। मेरे अनुरोध पर राजकुमार ने उनको मेरे पुत्र को संस्कृत पढ़ाने का कार्य सौंप दिया था। स्वामीजी मेरे यहाँ इतने दिन टिके रहे, परन्तु शास्त्री उस दौरान मेरे यहाँ एक दिन भी नहीं आये। अब ठीक स्वामीजी के प्रस्थान के समय वे आ पहुँचे और मुझसे अनुरोध करने लगे कि थोड़े समय के लिये ही सही, कुछ मिनटों के लिये ही सही, मैं उन्हें स्वामीजी से मिला दूँ। यद्यपि उन्होंने सुना था कि उत्तर भारत के एक अत्यन्त विद्वान् संन्यासी आकर मेरे घर में ठहरे हुए हैं, परन्तु बीमार होने के कारण आ नहीं सके थे। वे उनके साथ कुछ बातें करने को आतुर थे। स्वामीजी और भट्टाचार्य उसी समय अपने घोड़ेगाड़ी पर सवार होकर प्रस्थान करने के लिये सीढ़ियों से नीचे उतर रहे थे। पण्डितजी ने मुझसे अतीव आग्रह के साथ स्वामीजी को कुछ मिनटों के लिये ठहर जाने का अनुरोध करने को कहा। पण्डितजी का अनुरोध बताने पर स्वामीजी ने उनके साथ सात-आठ मिनट संस्कृत में बातें कीं। उन दिनों मुझे संस्कृत भाषा का ज्ञान नहीं था, अत: उनकी बातों का मर्म समझ नहीं सका। परन्तु बाद में पण्डितजी ने मुझे बताया कि उन्होंने व्याकरण के कुछ गूढ़ तथा विवादास्पद बिन्दुओं पर प्रश्न किये थे, परन्तु उस संक्षिप्त वार्तालाप के दौरान ही स्वामीजी का संस्कृत व्याकरण का सटीक ज्ञान तथा संस्कृत भाषा पर उनका प्रभुत्व व्यक्त हो उठा था।

इसके साथ ही मेरे घर में स्वामीजी का नौ दिनों का निवास समाप्त हुआ। आज उनका स्मरण करते हुए लगता है कि वे नौ दिन अति आश्चर्यजनक थे, जिनका प्रभाव कभी मिटाया नहीं जा सकता। स्वामीजी के भव्य व्यक्तित्व तथा अनुपम कार्य के द्वारा इतिहास के एक नये युग का सूत्रपात हुआ है, जिसके पूरे महत्त्व का आकलन सुदूर भविष्य में ही हो सकेगा। परन्तु जिन लोगों को उन्हें अन्तरंग रूप से जानने का सौभाग्य मिला, उन्हें तो वे उन कुछ अलौकिक आचार्यों से ही तुलनीय प्रतीत होते हैं, जिन्होंने इस पवित्र भूमि पर एक अमर आलोक का विस्तार किया था। जिन स्वामीजी ने अपने समय तथा पीढ़ी के पूरब और पश्चिम के मानव-समुदाय के हृदय को सम्मोहित तथा वशीभूत कर लिया था, उनके बारे में मेरी व्यक्तिगत स्मृतियाँ अल्प हैं और उनके बारे में कोई विशेष जानकारी नहीं देतीं, तो भी उन्हें लिपिबद्ध करके मुझे बड़ा आनन्द हो रहा है। ❖ **(क्रमश:)** ❖

जनकाष्टक

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

मत कर अत्याचार रे।
जो जन दीन-मलीन हैं,
उनका कर उद्धार रे।।

वह ही सच्चा वीर है।
जिसका जीवन लोक के,
हित में बहता नीर है।।

नहीं राम-सा नाम रे।
योगी रमते राम में,
राम सकल सुखधाम रे।।

मन ! तू हो न अधीर रे।
भव-सागर तर जायेगा,
जो सहाय रघुवीर रे।।

भारत एक-हृदय हो

बैजनाथ प्रसाद शुक्ल 'भव्य'

भगवति ! भारत एक हृदय हो।
पुण्यभूमि, शत कोटि जनों के,
उर-पुर प्रेम विनय हो।

हे जगदीश्वरि ! ग्राम-नगर में,
सबकी जय हो, जय हो।

नहीं भेद हो कभी परस्पर,
समता-भाव उदय हो।

हो सहकार, एकमत हों सब,
भारत शक्ति-निलय हो।

बोलें समझें साथ चलें सब,
शुचि बन्धुत्व अभय हो।

सभी सुखी हों जग के प्राणी,
ज्ञानालोक उदय हो,

यश-सुख-शान्ति विभव विश्वेश्वरि,
दे, जग मंगलमय हो।।

दैवी सम्पदाएँ (९) सरलता

भैरवदत्त उपाध्याय

(गीता में आसुरी गुणों के साथ ही दैवी गुणों का भी निरूपण किया गया है। विद्वान् लेखक ने इस लेखमाला में दैवी गुणों का सविस्तार विश्लेषण किया है और विभिन्न शास्त्रों व आचार्यों के विचारों के आधार पर बताया है कि इन्हें अपने जीवन में कैसे लाया जाय। – सं.)

आर्जव अर्थात् सरलता नौवीं दैवी सम्पत्ति है। यह ऐसा दैवी गुण है, जिसकी समाज को सदैव आकांक्षा होती है और मनुष्य पशु की परिधि से निकलकर मनुष्य की सीमा का स्पर्श करता है। यही कारण है कि इसे मानवता के शिखर पर अधिरोहण की २६ सीढ़ियों में से एक सीढ़ी निरूपित किया है। गीता के अनुसार यह शारीरिक तप है और ज्ञानी का स्वाभाविक कर्म है (१४.१७)। यह योग और क्रियापरक व्यवहार है। यह कठिन मार्ग है, परन्तु ज्ञेय है और ज्ञेय होने से ज्ञान है (गीता ७.१३); यह ऐसा ज्ञान है जो सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक है। इसे साधु-सन्तों की संगति से जानकर जीवन में उतारा जाता है।

सरलता बनावटीपन का अभाव है। प्रकृति में विकृति का निषेध है। आवरण की अस्वीकृति और प्रवंचना से विरति है। कपटाचरण, धोखाधड़ी, मुखौटेबाजी, ऊपरी तड़क-भड़क, झूठी चमक-दमक, मिथ्याडम्बर आदि सरलता के विपर्यय हैं। यह माया का त्याग है। माया मिथ्यात्व तथा विभ्रम है। अहं की परितुष्टि के हेतु फैलाया गया जाल है। प्रतारणा के निमित्त मिथ्यता का आरोपण है। मन, वाणी और कर्म की एकरूपता ऋजुता का लक्षण है। महात्मा वही बोलते हैं, जो उनके मन में होता है और करते भी वही है, जिसे उनकी वाणी उच्चरित करती है। दुरात्माओं का आचरण इसके विपरीत होता है –

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यत् दुरात्मनाम्।

कुछ लोग यह शंका कर सकते हैं कि मन में बहुत-से बुरे संकल्प होते हैं। यदि उन्हें वाणी से अभिव्यक्त या कर्म में आचरित करने की चेष्टा की जाय, तो समाज क्या ऐसे व्यक्ति को महात्मा मानने को तैयार होगा? वह या तो उसकी खोपड़ी तोड़ेगा या फिर उसे मानसिक चिकित्सालय में भर्ती करा देगा। पर सच तो यह है कि महात्माओं का मन शुद्ध होता है। उसमें बुरे विचार उठते ही नहीं हैं। मन की सरलता का अभिप्राय है कि मन से वही सोचें, जो शुभ-मंगलमय और कल्याणकारी हो; जिसे हम जीवन के व्यवहार में उतार कर अन्तिम परिणति दे सकें। यदि हमारी बड़ी ऊँची कल्पनाएँ हैं, अत्युच्च महत्त्वाकांक्षाएँ हैं, ऐसे लक्ष्यों का निर्धारण किया है, जिन्हें हम कभी भी प्राप्त नहीं कर सकते, उन तक नहीं पहुँच सकते, तो हमारी यह असफलता हममें कुण्ठा, संत्रास और हीनता की ग्रन्थियों को जन्म देगी। फिर हमारा जीवन एक बोझ मात्र बनकर रह जायेगा। मन का विचार इस प्रकार का होना आवश्यक है, जिससे हमारे मन की निष्कलुषता, स्वच्छता और प्रसन्नता की अभिव्यक्ति होती हो।

वाणी की सरलता का स्थान सामाजिक जीवन में महत्त्वपूर्ण है। हम अपने मुँह से जो भी कहें, उसमें मिश्री की मधुरता तो हो, पर व्यंग्य रूपी बाँस की फाँस न मिली हो। कुटिलतापूर्ण, कूटोक्तियाँ, कर्कश वचन-क्षुरिकायें, अनिश्चय, सन्देह, भ्रान्ति और असत्यतापूर्ण भाषण मन की शुचिता के प्रतीक नहीं है। अपनी अमूल्य वाणी से मिथ्या आश्वासनों के वितरण से लोग तत्काल तो आकर्षित हो जाते हैं, परन्तु जब उनकी पूर्ति नहीं होती और वे मिथ्या सिद्ध होते हैं, तब झूठे आश्वासन बाँटनेवाले की कलई खुल जाती है, फिर समाज में उसका वह स्थान नहीं रहता, जिसे पाने की इच्छा से उसने ऐसा किया था। मिथ्या आश्वासनों के लिये हमारे आज के नेता प्रसिद्ध हैं। समाज ने उनका मूल्यांकन कर लिया है। कर्कश वाणी में बहुत चुभन होती है। उससे प्रेम और सम्मान का आवर्जक हृदय पक जाता है। फिर उससे घृणा, आशंका तथा प्रतिशोध का पीव बहने लगता है। दूसरों को प्रसन्न करने या फिर स्वार्थ-सिद्धि के लिये वाणी में मधुरता घोली जाती है, तो वह क्षणिक और दु:ख-परिणामी है, प्रशंसनीय नहीं है।

कर्म की सरलता वह है, जिसमें कर्ता के द्वारा निरभिमान, निरहंकार और नि:स्पृह भाव से सर्वमांगल्य के हेतु कर्म किये जाते हैं। यज्ञार्थ और लोकमंगल के निमित्त समस्त कर्म होते हैं। यदि कोई काम दिखावे या छलावे के लिये होता है, तो वह सरल नहीं है। प्रवंचना और लोगों को प्रभावित करने
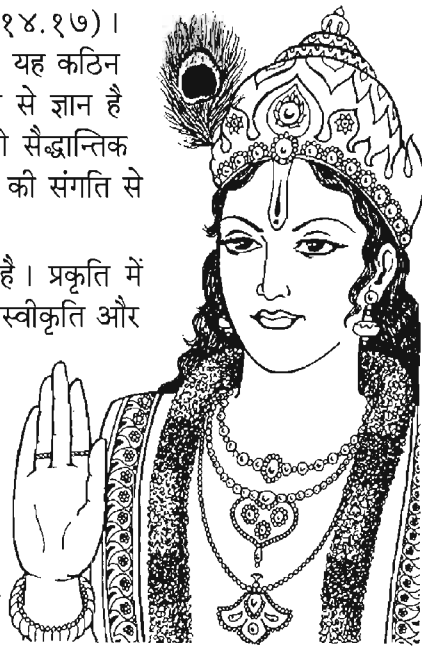
हेतु किये गये कर्म जटिल हैं, सरल नहीं। कुटिल कभी बड़ा नहीं होता। अपने मन में बड़े होने का भ्रम भले पाले, पर वह समाज का आदर्श नहीं बन सकता। 'सादा जीवन उच्च विचार' (Simple living and high thinking) की उक्ति के अनुसार विचार उच्च हो सकते हैं, पर जीवन सादगीपूर्ण हो। किसी प्रकार की टीम-टाम तथा पेंचीदगी न हो। विचारों की सात्त्विकता के साथ कर्मों का सात्त्विक होना आवश्यक है। काम, क्रोध लोभ, मोह आदि विकारों से उत्प्रेरित व्यवहार सरल नहीं होता। सरल व्यवहार प्रेम और सर्व-मांगल्य पर आधारित होता है। उसमें ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, वैमनस्य, दर्प, दम्भ, अहंकार, कठोरता और हिंसा के आसुरी भावों का स्थान नहीं होता। कर्म की सादगी में भोजन और वेश-भूषा की सादगी भी अपेक्षित है।

सरल व्यक्ति विनीत होता है। विनम्रता और विनयशीलता की प्रतिमूर्ति माना जाता है। पर वह दीन नहीं होता। समाज की तथाकथित सहानुभूति तथा दया का पात्र भी नहीं होता। वह फूहड़, जड़, अकुशल, अव्यावहारिक और निष्क्रिय नहीं होता। वह सक्रिय स्वच्छताप्रिय, दमी एवं आत्मनिग्रही होता है। वह कामनाओं को त्यागकर स्वयं में सन्तुष्ट रहता है। प्रिय की प्राप्ति पर प्रसन्न और अप्रिय की प्राप्ति पर दुखी नहीं होता। दुखों से उद्विग्न एवं सुखों का स्पृही नहीं होता। विषयों के प्रति आकर्षित नहीं होता। वह न किसी के प्रति आसक्त होता है और न अनासक्त। वह सदा प्रसन्नचित्त रहता है। उसका स्वभाव चंचल नहीं होता, बुद्धि स्थिर होती है और वह मननशील तथा निर्भीक होता है। निर्वैरता, क्षमाशीलता और समभावता उसके चारित्रिक गुण हैं।

खल कुटिल होता है और सज्जन सरल। समाज कुटिलता पसन्द नहीं करता। उसमें खलों के लिये कोई स्थान नहीं होता। फिर भी आज समाज में सरलता का उपहास होता है, सरल व्यक्ति की लोग खिल्ली उड़ाते हैं। चन्द्रमा जब सीधा चलता है, तभी राहु उसे ग्रसता है। जब वह टेढ़ा चलता है, तब राहु की छाया उस पर नहीं पड़ती। इस प्रकार समाज में सीधे -सरल का जीना दूभर हो जाता है और टेढ़े को सारी सुविधाएँ मिल जाती हैं। ऐसा दिखता अवश्य है, परन्तु वस्तुत: समाज के आम लोग उससे कटते हैं। मन से कोई उसे सम्मान नहीं देता। सरलता के लिये बालक आदर्श उदाहरण है। उसमें किसी प्रकार का कपट, झूठ या बनावटी-पन नहीं होता। वह न किसी का अहित सोचता है, न करता है। उसके मन में क्रोध स्थायी नहीं होता। अपमान की आग उसे नहीं झुलसाती, वह अपनी प्रकृति में लीन रहता है, अपने भाव में स्थित होता है। उसकी सरलता ही वास्तविक सरलता है और वही हमारे जीवन का लक्ष्य है।

आर्जवं न कुटिलेषु नीतिः – सरलता की नीति – सामनीति – कुटिलों के साथ सफल नहीं होती। जो मायावियों के साथ मायावी नहीं बनते, ऐसे मूढ़बुद्धि पराभव को प्राप्त होते हैं – **व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं, भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।** ये सिद्धान्त-वाक्य यह तो प्रमाणित करते है कि धूर्तों के साथ सरलता नहीं चलती, पर उसका महत्त्व कम नहीं होता; क्योंकि वह अपने-आप में एक मूल्य है। जबकि कुटिलता न मूल्य है और न समाज का आदर्श। दुहरी दृष्टि राजनीति की होती है। धर्म तो सबको समान रूप से देखता है। राजनीति सर्व-साधारण को कभी प्रभावित नहीं करता। सरलता का आधार सत्य होता है और विजय सत्य की होती है। असत्य की नहीं। 'सत्यमेव जयते नानृतम्' का घोष हजारों वर्षों से हमारी आस्था और विश्वास को दुहराता आ रहा है। रामायण और महाभारत इसकी पुष्टि करते रहे हैं। कुटिलता के कारण ही मायावी असुरों की पराजय हुई थी और अपनी सरलता से ही देवता विजयी हुए थे। दुनिया के समूचे नक्शे पर छा जानेवाले कुटिल अँग्रेज अब एक कोने में सिमट कर रह गये हैं। सरलता हमारी संस्कृति का वैयक्तिक और सामाजिक लक्ष्य है, जिसे प्राप्त करना ही परम पुरुषार्थ है।

सरलता और भक्ति में कोई अन्तर नहीं है। सरलता भक्ति की सर्वोच्च कक्षा है। गोस्वामी तुलसीदास ने सरलता को नवधा भक्ति में अन्तिम – नवम स्थान दिया है –

नवम सरल सब सन छलहीना।

यदि मनुष्य में अन्य गुण न भी हो, केवल सरलता हो, तो भी वह भगवान का परम प्रिय होता है। उसमें सभी प्रकार की भक्ति आ जाती है। भक्त के समान चराचर जगत् में कोई नहीं होता। शबरी के पास क्या था? उसके पास केवल सरलता थी। निश्छल व्यवहार था। हृदय-घट से छलकता प्रेम था? इसी के बल पर उसने परमप्रभु को जीत लिया था। सभी प्रकार की भक्ति उसमें दृढ़ हो गई थी –

सोइ अतिशय प्रिय भामिनि मोरे।
सकल प्रकार भगति दृढ तोरे॥

सरलता से न केवल शबरी ने ही प्रभु को जीता, अपितु केवट, निषादराज और कोल-भीलों ने भी अपने सरल व्यवहार से प्रभु को अपना बना लिया। भगवान श्रीकृष्ण ने दुर्योधन के मेवे त्यागकर विदुर के यहाँ साग-पात का सुरुचि के साथ भोग लगाया। गोपियाँ भोली थीं, परन्तु श्रीराधा के भोलेपन का तो कहना ही क्या था? उनके इसी भोलेपन ने नटनागर को इतना रिझा लिया कि वे पल भर के लिये भी उनका साथ छोड़कर नहीं रह सकते। भगवान को कपट-गाँठ रास नहीं आती और जिस भक्त का सरल स्वभाव होता है, उसी की नाव किनारे लगती है –

कपट गाँठ मन में नहीं, सबलों सरल सुभाव।
नारायन ता भक्त की, लगी किनारे नाव॥

कपट-खटाई से प्रेम का क्षीर-सागर फट जाता है। माया से ग्रसित सांसारिक प्राणियों के भी तो लौकिक सम्बन्धों में दरार पड़ जाती है। जब हमें सरलता इतनी प्रिय है, तो प्रभु को भी होनी ही चाहिये।

आर्जव धर्म और जैनमत – आर्जव को सभी धर्मों में स्वीकार किया गया है। जैन मत में धर्म के जो दस लक्षण बताये हैं, उनमें से एक लक्षण आर्जव है। वह मायाकषाय का विपर्यय है। आर्जव आत्मा का स्वभाव है। आर्जव स्वभावी आत्मा में मायाचार का अभाव रूप जो पर्याय प्रकट होता है, वही आर्जव है। माया कषाय के कारण आत्मा में कुटलिता उत्पन्न होती है। व्यक्ति छल द्वारा कार्य सिद्ध करने की चेष्टा करता है। कष्ट, मानापमान एवं हानि आदि की भी चिन्ता नहीं करता। माया कषाय के चार प्रकार हैं – (१) अनन्तानुबन्धी माया (२) अप्रत्याख्यान-आवरण माया, (३) प्रत्याख्यान-आवरण माया और (४) संज्वलन माया। माया के इन चारों रूपों के निरोध के लिये सकारात्मक और नकारात्मक (Positive & Negative or Preventive & Detentive) 'समिति' तथा 'गुप्ति' के उपाय करने होंगे। सत्क्रिया का प्रवर्तन 'समिति' एवं असत्क्रिया का निरोध 'गुप्ति' है। सम्यक् दर्शन, अणुव्रत, महव्रत और सम्यक् चरित्र सकारात्मक; और 'कामगुप्ति', 'वाग्गुप्ति' एवं 'मनोगुप्ति' निरोधात्मक उपाय हैं। शारीरिक व्यापार का निरोध 'कामगुप्ति', वाणी के व्यापार का निरोध 'वाग्गुप्ति' और संकल्पादि मनोविकारों का निरोध 'मनोगुप्ति' है। इस उभय विधि से आत्मा को माया-कषाय से मुक्त किया जा सकता है। ('भारतीय दर्शन' – डॉ. उमेश चन्द्र और 'धर्म के दस लक्षण' डॉ. हुकुमचन्द भारिल्ल)

अन्तिम निष्कर्ष यह है कि सरलता मानव का अपेक्षित गुण है। उसके बिना वह कुछ और हो सकता है, पर मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं है। सरलता के द्वारा ही उसकी जीवन-यात्रा पूर्ण होनी चाहिये। समाज की यही आकांक्षा है। आर्जव-धर्म के पालन से वह कैवल्य के द्वार तक पहुँच सकता है। सांसारिक सुख-शान्ति का उपभोग कर सकता है। इसके विपरीत कुटिलता या मायाचार है, उससे तो वह बन्धनों – सामाजिक यंत्रणाओं में ही बँधेगा। इनसे छुटकारा पाने के लिये भगवान श्री कृष्ण के श्रीमुख से निर्दिष्ट आर्जव धर्म को ही अपनाना होगा। अन्य कोई उपाय नहीं है।
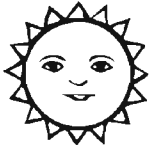
मातृसेवा का दृष्टान्त

स्वामी आत्मश्रद्धानन्द
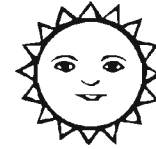
(लेखक रामकृष्ण संघ की आंग्ल पत्रिका 'वेदान्त-केसरी' के सम्पादक है। प्रस्तुत लेख उसी पत्रिका के सितम्बर, २००५ ई. के अंक में प्रकाशित हुआ था। उसकी उपादेयता को देखते हुए स्वामी प्रपत्यानन्द ने 'विवेक-ज्योति' के लिये इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

तैत्तिरीय उपनिषद् में लिखा है – **मातृदेवो भव** – अपनी माँ को ईश्वर मानो। इस प्रकार अत्यन्त प्राचीन काल से – उपनिषदों के काल से ही भारतीय संस्कृति में मातृपूजा की परम्परा चली आ रही है। सनातन धर्म में माता-पिता दोनों बड़े पूज्य हैं, क्योंकि व्यक्ति जीवन का प्रथम पाठ और यहाँ तक कि मातृभाषा भी उन्हीं से सीखता है। निश्चय ही यह सनातन धर्म का गौरव है, उसकी महानता है। उपनिषदों के मंत्र केवल पाठ तथा अध्ययन करने तक ही सीमित नहीं हैं, बल्कि आज भी ऐसे लोग हैं, जो अपने जीवन में उनका आचरण करते हैं। वे लोग साहसी हैं और वही इस शाश्वत धर्म को शक्ति प्रदान करता है। इस सन्दर्भ में हाल में ही घटी ऐसी ही एक घटना हमारे लिये विचारणीय है।

मध्यप्रदेश के जबलपुर में कैलास गिरि नाम का एक बालक था। एक बार वह पेड़ पर से गिरकर बुरी तरह घायल हो गया। उसे यथाशीघ्र चिकित्सक के पास ले जाया गया। लेकिन उसके बचने की सम्भावना कम थी। उसकी माँ ने भी वही किया, जो संसार की असंख्य माताएँ करती हैं। उन्होंने अपने पुत्र की रक्षा के लिये अपने कुलदेवता भगवान शिव से प्रार्थना की और साथ ही यह प्रतिज्ञा भी की कि वे २००० किलोमीटर पैदल चलकर रामेश्वरम् दर्शन करने जायेंगी। चिकित्सकों ने आशा छोड़ दी थी, परन्तु बड़े ही आश्चर्यजनक ढंग से वह बालक शीघ्र ही स्वस्थ हो उठा।

परन्तु उसकी युवती माता, अधिकांश लोगों की भाँति ही अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर सकी। वह अपने सांसारिक कार्यों में व्यस्त रही। वृद्धावस्था के साथ-साथ उसकी नेत्र-ज्योति भी क्षीण होती गयी और क्रमश: वह अन्धी हो गई। उसे अपनी प्रतिज्ञा पूरा न कर पाने का पछतावा होने लगा।

एक बार उसने अपना खेद अपने पुत्र के समक्ष व्यक्त किया। पुत्र ने उसकी बात को धैर्यपूर्वक सुनी और दृढ़तापूर्वक विश्वास दिलाया कि वह उस प्रतिज्ञा की पूर्ति में सहायता करेगा। परन्तु वह दृष्टिहीन वृद्धा उतनी दूर पैदल कैसे जाये?

वह इतना निर्धन था कि उसके लिये किसी वाहन की व्यवस्था करना भी सम्भव न था। पर वचनबद्धता और दृढ़ता का वह धनी था। उसने रामायण के सुप्रसिद्ध श्रवण कुमार

का स्मरण किया, जिन्होंने अपने माता-पिता – दोनों को कॉवर में बिठाकर, अपने कन्धों पर वहन करते हुए उन्हें तीर्थ-दर्शन कराया था। कैलास गिरि ने भी श्रवण कुमार के समान ही पैदल यात्रा का निर्णय लिया। उन्होंने भी बाँस का कॉवर बनाया। उस पर एक ओर उन्होंने माँ के बैठने के लिये गद्दीदार आसन रखा और दूसरी ओर पानी की बाल्टी, डिब्बे, खाना बनाने का स्टोव, मिट्टी का तेल, कुछ खाद्य-सामग्री और बर्तन आदि रखे। इन सबके साथ माँ को मिलाकर कुल वजन लगभग १३५ किलोग्राम हुआ।

इस प्रकार यह ९ वर्ष की यात्रा शुरू हुई। सबसे पहले उन लोगों ने मध्य भारत की दुर्गम नर्मदा नदी की परिक्रमा (जो अति पुण्यदायी मानी जाती है) सम्पन्न की। इस ३,००० किलोमीटर की यात्रा को पूरा करने में उन्हें ३ वर्ष लगे। तदुपरान्त वे लोग हिन्दुओं के पुनीत पुण्यतीर्थ चित्रकूट, प्रयाग, अयोध्या और वाराणसी गये। अपने यात्रा-मार्ग में उन लोगों ने छोटे-बड़े लगभग ९,००० मन्दिरों के दर्शन किये।

२००५ ई. की मई में वे लोग अपने गन्तव्य – रामेश्वरम् पहुँचे। मन्दिर के संचालकों ने सैकड़ों भक्तों के साथ उनका यथायोग्य स्वागत किया। सभी लोग माता और पुत्र के इस अद्भुत निर्णय, उनकी ईश्वर-भक्ति और माँ की इच्छा-पूर्ति के लिये पुत्र की निष्ठा से अभिभूत हो गये। इस अद्भुत घटना से प्रभावित अनेकों भक्तों ने वायुयान, रेलगाड़ी और वातानुकूलित कार द्वारा यात्रा की व्यवस्था करने का भी प्रस्ताव किया, पर उन्होंने इसे विनम्रतापूर्वक अस्वीकार कर दिया, क्योंकि माँ ने पैदल ही जाने और आने की प्रतिज्ञा ली थी।

मदुरै के समाचार-पत्रों ने यह समाचार विस्तार से प्रकाशित किया, पर माँ और पुत्र – दोनों ही विनम्रतापूर्वक अपने प्रचार -प्रसार से विमुख रहे। रामेश्वरम् दर्शन के बाद कैलास गिरि नगर-भ्रमण करते हुए मदुरै के रामकृष्ण मठ भी गये और वहाँ के संन्यासियों से भेंट की। बाद में माँ-पुत्र दोनों ने अपने स्व-निर्वाचित पथ से प्रस्थान किया।

४० वर्षीय कैलासगिरि से जब पूछा गया कि उन्होंने अपना यह ९ वर्ष का समय कैसे बिताया? तो प्रत्युत्तर में उन्होंने कहा कि वे और उनकी माँ प्राय: प्रतिदिन प्रात: ३ बजे उठ जाते हैं। पुत्र अपनी माँ की प्रात:क्रिया में सहायता करता है। उसके बाद अपने प्रस्थान के निर्धारित समय – ६ बजे के पूर्व माँ नित्य-पूजा करती हैं। कैलास गिरि ५ या ६ किलोमीटर चलते हैं और उसके बाद सड़क के किनारे स्थित किसी मन्दिर या मण्डप के सुविधाजनक स्थान में ठहरकर विश्राम करते हैं। तत्पश्चात् वे भोजन बनाते हैं। भोजन करने के बाद वे लोग सूर्यास्त तक विश्राम करते हैं। उसके बाद फिर अँधेरा होने तक २-३ किलोमीटर चलते हैं। प्रतिदिन वे लोग औसतन करीब ८ किलोमीटर पैदल चलते हैं। १३५ किलोग्राम का वजन लेकर चलना बड़ा आसान नहीं है। कैलास गिरि प्रत्येक १०० मीटर पर अपना वजन जमीन पर रखते थे, अपनी माँ की परिक्रमा करके घुटने टेककर प्रणाम करते थे और तब पुन: यात्रा आरम्भ करते थे। उदार-हृदय दानी लोगों के द्वारा जो चीजें प्रदान की जाती थीं, उसी से उन लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती थी।

कैलास गिरि जैसे मातृभक्त निश्चय ही दुर्लभ हैं। आज के युग में, जब धन-दौलत तथा भौतिक सुविधाएँ ही जीवन की प्राथमिकता बन बैठी हैं, ऐसा दृष्टान्त मिलना कठिन है। आज के युवा और सम्पन्न लड़के भी बहुधा अपने माता-पिता को वृद्धाश्रम में भेज देते हैं, पर उपरोक्त घटना माता के प्रति एकनिष्ठ भक्ति का उदाहरण प्रस्तुत करती है। यहाँ स्वामी विवेकानन्दजी के जीवन की एक घटना याद आती है। उन्होंने भी अपनी माता के व्रत की पूर्ति हेतु कोलकाता के काली-मन्दिर में लोटकर पुरातन परम्परा को रेखांकित किया था। ऐसा उन्होंने बहुत बाद में किया था, उस समय जबकि वे एक आध्यात्मिक विभूति के रूप में विश्वविख्यात हो चुके थे। कैलास गिरि जैसे मातृभक्त पुत्रों की उत्तरोत्तर वृद्धि और विस्तार हो, यही हमारी ईश्वर से प्रार्थना है! ❑❑❑

पुरखों की थाती

अनित्यानि शरीराणि विभवः नैव शाश्वतः।
नित्यं सन्निहितः मृत्युः कर्तव्यः धर्म-संग्रहः।।

– शरीर अनित्य है, धन-सम्पदा अल्प काल के लिये है, मृत्यु सर्वदा साथ है, अत: सत्कर्म ही उचित है।

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचन-द्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।।

– भगवान वेदव्यास द्वारा रचित अट्ठारहों पुराणों के सार रूप में दो ही बातें ग्रहणीय हैं – परोपकार ही पुण्य है और दूसरों को पीड़ा देना ही पाप है।

किं कुलेन विशालेन शीलमेवात्र कारणम्।
कृमयः किं न जायन्ते कुसुमेषु सुगन्धिषु।।

– बड़े प्रसिद्ध कुल में जन्म लेने मात्र से ही कोई महान् नहीं हो जाता। इसमें तो शील (आचरण) ही (प्रधान) कारण है, क्योंकि सुगन्धित पुष्पों के भीतर भी क्या कीड़ों-मकोड़ों का जन्म नहीं होता?

चिन्ता त्यज रघुश्रेष्ठ, चिन्ता कार्य विनाशिनी।

– चिन्ता को त्यागो, क्योंकि यह काम बिगाड़ती है।

माँ श्री सारदा देवी (१४)

आशुतोष मित्र

यह रचना 'श्रीमाँ' नामक पुस्तक के रूप में १९४४ ई. के नवम्बर में प्रकाशित हुई थी। यहाँ उसके प्रथम तीन अध्याय ही लिये गये हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस अंश का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

हम पहले ही कह आये हैं कि रामेश्वर-यात्रा के लिये हम लोगों ने भद्रक स्टेशन से मद्रास मेल पकड़ा था। लेखक को प्राय: माँ के डिब्बे में ही रहना पड़ता था। राम पुरी जाने हेतु खुरदा रोड स्टेशन पर उतर गये। गाड़ी चलती रही।

सुबह गाड़ी प्रसिद्ध चिल्का झील के किनारे-किनारे चल रही थी। झील के किनारे कहीं झुण्ड-के-झुण्ड बगुले घोसलों से निकलकर अपने पंख झाड़ रहे थे, कहीं घूम-घूमकर भोजन तलाश रहे थे और एक झुण्ड पास के पहाड़ से उड़ते हुए आकर झील में उतर रहा था।

माँ ने बालिका की भाँति आनन्द प्रकट करते हुए हम लोगों को यह अपूर्व दृश्य दिखाया। फिर बहुत-से नीलकण्ठ पक्षियों को देखकर उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम किया। अस्तु, गाड़ी धड़धड़ाती हुई सुबह आठ बजे गंजाम जिले के बहरमपुर स्टेशन पर जा पहुँची।

वहाँ शशी महाराज के निर्देशानुसार केलना कम्पनी के बंगाली मैनेजर कुछ दक्षिणी भक्तों के साथ हम लोगों की प्रतीक्षा कर रहे थे। वे हमें एक पूर्व-निर्दिष्ट भवन में ले गये। उक्त मैनेजर महोदय ने हम लोगों के भोजन, विश्राम आदि की सारी व्यवस्था की। वे एक बड़े विनम्र व्यक्ति थे। दोपहर में कई दक्षिणी तथा गंजामवासी भक्त केले तथा नारियल लेकर माँ का दर्शन करने आये। वह रात वहीं बिताकर अगले दिन सुबह हमने पुन: मद्रास मेल पकड़ा। वह दिन तथा रात गाड़ी में ही बिताकर उसके अगले दिन दोपहर को हम मद्रास पहुँचे।

रास्ते में अपराह्न में प्रसिद्ध स्वास्थ्य निवास – वाल्टेयर पड़ा था। पहाड़ों के किनारे-किनारे अट्टालिकाओं की पाँत देखकर माँ बड़ी खुश हुईं। बोलीं – 'देखो, देखो, बिल्कुल मानो तस्वीर हो।' रात में माँ ट्रेन के नीचे की बर्थ पर सोने को राजी नहीं हुई, क्योंकि बहुत दिनों पूर्व एक बार जब वे इसी प्रकार सोयी हुई थीं, तो नींद में उनका हाथ खिड़की पर चला गया और उसी हाथ में ठाकुर का कवच बँधा था, तब ठाकुर ने दर्शन देकर उन्हें सावधान कर दिया था। अत: वे ऊपर की बर्थ पर सोना चाहती थीं। उन्हें ऊपर चढ़ा दिया गया और उतरने की आवश्यकता पड़ने पर उतारा भी गया।

मद्रास स्टेशन पर शशी महाराज कुछ भक्तों तथा तीन मोटर-गाड़ियाँ लेकर माँ का स्वागत करने आये थे। पहले माँ और मैं मोटर-गाड़ी में बैठे। मद्रास मठ के पास मयलापुर में ही माँ के लिये एक दोमंजला भवन किराये पर लिया गया था। हम लोग उसी में जाकर ठहरे और लगभग एक माह उसी में रहे। माँ जितने दिन वहाँ रहीं, उनके आदेश से शशी महाराज मठ में न खाकर दोनों समय हम लोगों के साथ ही भोजन करते थे।

इस दौरान नारी-विद्यालय की नारियों ने माँ को तमिल भजन और कुमारियों ने बड़े सुललित स्वर में वायलिन सुनाया।

प्राय: प्रतिदिन शाम को हम लोग माँ को लेकर नगर-भ्रमण के लिये निकलते। एक दिन हम समुद्र-तट पर गये। वहाँ घूमने तथा बैठने का अच्छा प्रबन्ध था। एक दिन हम नया मत्स्यागार (एक्वेरियम) देखने गये। तब तक उसका निर्माण पूरा नहीं हुआ था, तो भी विभिन्न रंगों तथा आकारों की समुद्री मछलियाँ वहाँ थीं। एक दिन हम लोग मयलापुर का (कपालीश्वर) शिव-मन्दिर और एक दिन ट्रिप्लिकेन का पार्थसारथी-मन्दिर देखने गये। मद्रास में शैव तथा वैष्णव – दोनों सम्प्रदायों के मन्दिर प्रसिद्ध हैं। एक दिन हम किला देखने भी गये। यह भारत में अंग्रेजों का प्रथम किला है। यहीं पहली बार रिक्शा देखने को मिला। एक दिन माँ को उस पर बैठाया भी गया। यहाँ के घोड़ागाड़ी वाले हिन्दी नहीं जानते और हम भी तमिल नहीं जानते थे, अत: अंग्रेजी में ही बातचीत करनी पड़ती थी।

यहाँ मद्रास के बारे में कुछ बताना उचित रहेगा। मद्रास आकार में कोलकाता से बड़ा है, पर आबादी कम होने के कारण खाली-खाली दिखता है। यहाँ उच्च-न्यायालय तथा विश्वविद्यालय होने के कारण तमिल, तेलगू, कन्नड़ आदि कई भाषाएँ प्रचलित हैं। तो भी तमिल ही प्रमुख भाषा है। संस्कृत का प्रचलन काफी है। ब्राह्मण आदि चारों वर्णों के लोग मिलते हैं। तो भी उनके मुख्यत: दो विभाग हैं – ब्राह्मण और अब्राह्मण। इस ओर जाति-विचार बड़ा प्रबल है और यहाँ तक सुनने में आता है कि यदि कोई 'पैरिया' या शुद्र किसी ब्राह्मण को भोजन बनाते या आहार करते देख ले,

तो ब्राह्मण उस खाद्य-पदार्थ को फेंककर रसोईघर को धोकर स्नान करके दुबारा खाना बनायेगा। इसके बाद सम्भव है कि ये महा-कट्टर ब्राह्मण, ललाट पर अपने सम्प्रदाय का चिह्न लगाये नंगे-पाँव कचहरी गये और खाने के समय उनका शूद्र सईस उनके लिये 'दही-भात' ले गया और वे वही खाते हैं। अन्न के साथ दही मिला होने से उसमें दोष नहीं रह जाता। और इस अंचल में विवाह की प्रथा भी अलग है – लड़के की माँ के कुल की कन्या ही सबसे उपयुक्त मानी जाती है। न हो, तो अन्य कन्या की तलाश होती है। मद्रास के भोजन की विशेषता यह है कि वहाँ के अधिकांश व्यंजन नारियल के तेल में बनते हैं। इसका कारण शायद यह है कि इधर नारियल बहुत पैदा होता है। इमली तथा काली मिर्च डालकर बननेवाला मद्रासी 'रसम्' एक अद्भुत चीज है। और फिर चावल का बना हुआ पापड़ जीवन में पहली बार यहीं खाया। मद्रास में अंग्रेजी विद्या का काफी प्रचार है। ठण्डक यहाँ करीब-करीब नहीं के बराबर पड़ती है।

मद्रास में कुछ स्त्री तथा पुरुष भक्तों ने माँ से दीक्षा ली। मद्रास मठ के एक अमेरिकी ब्रह्मचारी अमृतानन्द को भी माँ से दीक्षा मिली। माँ के इन लोगों के साथ बातचीत के समय मुझे दुभाषिये का काम करना पड़ता था, परन्तु दीक्षा के समय मंत्र तथा हाथ से जप आदि बताते समय मेरी जरूरत नहीं हुई। सभी लोग माँ की बातों को समझ लेते थे। यह एक उल्लेखनीय बात थी।

रामलाल-दादा (ठाकुर के भतीजे) रामेश्वर-दर्शन की इच्छा लिये कोलकाता से वहाँ आ पहुँचे, परन्तु निताई की माँ के बीमार पड़ जाने से हम लोगों के जाने में विलम्ब होने लगा। उन्हें स्वस्थ न होते देख, विवश होकर हम लोग उनकी सेवा की व्यवस्था कर एस. आई. रेलवे के द्वितीय श्रेणी में रवाना हुए। गाड़ी में सुन्दर व्यवस्था थी। कई छोटे-छोटे डिब्बों की गाड़ी थी – उसके एक छोर से दूसरे छोर तक छोटा बरामदा था। रात के समय उसी बरामदे के एक कोने में एक पहरेदार चाभी लेकर खड़ा रहता। किसी यात्री के आने पर वह खाली कमरे को खोल देता और कमरा खाली न रहने पर अगली गाड़ी से आने को कहता। हर कमरे में एक के ऊपर एक, इस प्रकार दो लोगों के सोने की जगह थी। हर शैया के ऊपर एक छोटा-सा पंखा था। स्वामी रामकृष्णानन्द हम लोगों के साथ चले। हम लोग रात में चलकर अगले दिन सुबह मदुरै पहुँचे और उस दिन स्थानीय नगरपालिका के अध्यक्ष एक मद्रासी भक्त के अतिथि के रूप में ठहरे।

यहाँ भारत के अति प्राचीन नगर मदुरै का थोड़ा संक्षिप्त परिचय देता हूँ। भारत में रेलपथ बनने के काफी पूर्व ही रानी अहल्या बाई ने यात्रियों के सुविधा हेतु बंगाल के मेदिनीपुर से लेकर श्रीक्षेत्र होते हुए रामेश्वरम् तक एक चौड़े सड़क का निर्माण कराया था। इस मार्ग पर जगह-जगह साधु-संन्यासियों के लिये क्षेत्र या सदावर्त चलता है। अब भी बहुत-से साधु-संन्यासी इसी मार्ग से श्रीक्षेत्र में जगन्नाथ-दर्शन के बाद जिउड़े नृसिंहजी, वेंकटाद्रि या श्रीशैल में बालाजी, विष्णुकांची या शिवकांची, तिरुच्चिरापल्ली में श्रीरंगम, मदुरै, कूर्मक्षेत्र आदि दक्षिण के सभी प्रसिद्ध तीर्थों का दर्शन करते हुए रामेश्वर आते हैं। फिर रामेश्वर से एक अन्य पैदल रास्ता भारत के पश्चिमी सागर-तट से होता हुआ द्वारका तक गया है। साधु लोग रामेश्वर-दर्शन के बाद इसी मार्ग से पद्मनाथ, जनार्दन, कन्याकुमारी, गोकर्ण महादेव, महाबलेश्वर, पण्ढरपुर आदि तीर्थों का दर्शन करते हुए प्रभास तथा द्वारका पहुँचते हैं।

मदुरै भगाई या भगारू नदी के दक्षिणी तट पर स्थित है। यहाँ दो धर्मशालाएँ हैं। एक स्टेशन के पास और दूसरी भगाई नदी के किनारे। हम लोग अपराह्न में मन्दिर का दर्शन करने गये। मदुरै का मीनाक्षी-मन्दिर बड़ा प्रसिद्ध है। दक्षिण भारत में दूसरा कोई मन्दिर इतना सुन्दर, प्राचीन तथा विशाल नहीं है। मूर्तिकला की दृष्टि से भी वह सारे भारत में अनूठा है। इस मन्दिर के विषय में स्थल-पुराण में लिखा है –

देवराज इन्द्र ब्रह्महत्या के पाप से छुटकारा पाने हेतु भारत के सारे तीर्थों का भ्रमण करते हुए यहाँ आते ही पापमुक्त हो गये। पापमुक्ति का कारण खोजने पर उन्हें एक अनादि-लिंग मिला। उन्होंने विश्वकर्मा के द्वारा एक मन्दिर बनवाया और वैशाखी पूर्णिमा के दिन वैदिक मतानुसार बृहस्पति के हाथों स्थापना कराने के बाद उस लिंगमूर्ति को 'सुन्दर' नाम दिया। उक्त पुराण में यह लिखा है कि सीता की खोज में लंका की ओर जाते समय श्री रामचन्द्र ने अगस्त्य मुनि के आदेश पर मदुरै के इन सुन्दरदेव की भी पूजा तथा आराधना की थी।

चौदहवीं शताब्दी में दक्षिण के मुसलमान शासकों ने इस मन्दिर के सामने की दीवार तथा गोपुरम् या प्रवेश द्वार को तोड़ दिया था। वर्तमान में इस टूटे गोपुरम् के नीचे बाजार लगता है। मन्दिर चारों ओर राजपथ से घिरा है। इसके नौ प्रवेश-द्वार है। उसमें से एक १५२ फीट ऊँचा है। यह देवालय उत्तर से दक्षिण की ओर ८३७ फीट लम्बा और पूर्व से पश्चिम की ओर ७४४ फीट चौड़ा है। मन्दिर के बीच में सुन्दरेश्वर स्वामी या 'सुन्दर' लिंग तथा मीनाक्षी देवी की मूर्ति विराजित है। जगह-जगह सुन्दरेश्वर की लीला के लिये कुछ मण्डप हैं। उनमें सहस्र-स्तम्भ-मण्डप और वसन्त-मण्डप – ये दो प्रसिद्ध हैं। मन्दिर का पूरा भीतरी भाग एक मेहराब के ऊपर स्थापित है और सहस्र-स्तम्भ-मडण्प अर्थात् हजार स्तम्भों वाले दालान की मूर्तिकला तथा चित्रकला वर्णनातीत है। यह एक दर्शनीय वस्तु है। वसन्त मण्डप १०० गज लम्बा और ६० फीट चौड़ा है। इसकी १२० फीट की छत पत्थर के खम्भों पर टिकी है और हर खम्भा २० फीट ऊँचा

है। इनमें जल निकास के लिये नाली भी बनी हुई है। इस मण्डप में वैशाखी शुक्ल पंचमी से पूर्णिमा तक सुन्दरेश्वर स्वामी का वसन्त-क्रीड़ोत्सव होता है। इस उत्सव में बहुत-से लोग आते हैं। यह मण्डप भक्तराज तिरुमल नायक ने बीस लाख रुपये की लागत से बनवाया था। मन्दिर के बगल में पत्थर से बना शिवगंगा नामक सरोवर है। सरोवर के चारों ओर दालान है और बीच में सुन्दर-लीला-मण्डप है। अपराह्न में माँ तथा अन्य सबने यथाविधि सरोवर में स्नान किया और दर्शन करके संध्या के बाद लौटे। उधर की महिलाएँ संध्या को दीप खरीदकर अपने-अपने नाम से शिवगंगा के किनारे रख जाती हैं। माँ ने भी अपने नाम से दीपदान किया। रात में मन्दिर को दीपमाला से सज्जित किया जाता है।

एक मील दूर तिरुमल नायक का राजभवन भी दर्शनीय है। भवन पत्थरों से बना हुआ और मजबूत है। पत्थर के इस भवन की छत अद्भुत खुदाई से युक्त १२५ स्तम्भों पर टिकी है। अब इसमें जज की अदालत आदि कई सरकारी दफ्तर हैं। जज के बँगले के पास एक अति विशाल वटवृक्ष है, जिसका तना करीब ७० फीट चौड़ा और शाखाएँ लगभग १८० फीट तक फैलीं हैं। इस महल से डेढ़ मील पूर्व की ओर रामेश्वर के पैदल रास्ते के पास तेप्पनपुलम् नाम का एक बृहत् सरोवर है। यह हर ओर से १२०० गज चौड़ा, चारों ओर पत्थर से बने भवनों से घिरा और जगह-जगह पत्थरों से निर्मित घोड़ों, मयूरों आदि की मूर्तियों से शोभित हैं। सरोवर के बीच में चारों ओर पत्थर से बना एक द्वीप है। इसके बीच में दुमंजला मन्दिर और चारों कोनों पर खुदाई के काम से युक्त चार छोटे-छोटे मन्दिर हैं। ग्रीष्म काल में जलयात्रा-उत्सव के समय संध्या के बाद मीनाक्षी देवी के साथ सुन्दरेश्वर स्वामी इस सरोवर में आकर नौकारोहण द्वारा इस द्वीप के चारों ओर भ्रमण करते हैं। उस समय सरोवर के चारों ओर एक लाख दीप जलाये जाते हैं। रामेश्वर जाते तथा लौटते समय माँ इन स्थानों को देखकर बड़ी आनन्दित हुईं और बोलीं – 'ठाकुर की कैसी सब लीला है।'

अगले दिन दोपहर में रेलगाड़ी से चलकर अपराह्न में हम पाम्बन-प्रणाली या हरबला की खाड़ी के किनारे पहुँचे। रेल यहीं तक जाती है। स्टेशन का नाम मण्डप है। एक छोटे स्टीमर द्वारा खाड़ी को पार करके हम रामेश्वर द्वीप पहुँचे। आजकल इस खाड़ी पर रेलगाड़ी चलती है, पर तब तक सेतु के कुछ ही स्तम्भ बने थे। त्रेतायुग में नल द्वारा निर्मित करीब २-३ मील चौड़ा और ६० मील लम्बा वह सेतु आज भी समुद्र-तट के उच्चापल्ली से लंका तक दीख पड़ता है। बीच में दो-तीन स्थानों पर टूट जाने से अब इस पर आना-जाना नहीं होता। उच्चापल्ली से खाड़िका या हरबला की खाड़ी तक ११ मील का एक अंश अब भी भारत के अधीन है। इसके बाद दो मील टूटा हैं। इसी को 'पाम्बन-पास' कहते हैं। शायद जहाजों के आवागमन के लिये बाद में इस अंश को तोपों से उड़ा दिया गया था। आज भी समुद्र के बीच-बीच में उभरे बड़े-बड़े पत्थरों को देखकर लगता है कि श्रीराम का सेतु पत्थरों से ही बना था। पाम्बन खाड़ी के बाद ३-४ मील चौड़ा और २४ मील लम्बा रामेश्वर द्वीप है। इसके बाद फिर करीब ३ मील टूटा है, जहाँ ज्वार के समय पानी रहता है, पर भाटे के समय बीच-बीच में बालू तथा पत्थर उभर आते हैं। इसके बाद फिर १८ मील लम्बा और ढाई मील चौड़ा, सेतु का एक और अंश है। इसे 'मन्नार' द्वीप कहते हैं। इस पर एक दुर्ग तथा नगर और बहुत-से लोगों के मकान हैं। उसके बाद फिर २ मील टूटा हुआ है, जिसे पार करते ही लंका है। यहाँ भी पानी बड़ा कम है, इतना कम कि भाटे के समय द्वीप से पशु तथा मनुष्य पैदल चलकर लंका पहुँच जायँ। पहले लोग इस सेतु से आते-जाते थे, परन्तु १४८४ ई. में समुद्र की लहरों के आघात से इसके टूट जाने पर आवागमन बन्द हो गया। इस सेतु के दोनों ओर समुद्र का पानी कम है और बीच में बालू तथा पर्वत हैं। इस कारण इसमें केवल छोटी नावें ही चल सकती हैं। माँ यह सब देख-सुनकर बोलीं – 'देखते हो न बेटा, किस युग के अवशेष आज भी बचे हुए हैं।'

स्टीमर से हम लोग रामेश्वर द्वीप के जिस जगह पहुँचे, उसे पाम्बन या पवन-बन्दर कहते हैं। इस बन्दरगाह से कई स्टीमर कोलम्बो, मद्रास, तूतीकोरिन आदि स्थानों को आते-जाते रहते हैं। यहाँ समुद्र के किनारे साहबों के तीन-चार बँगले, कुछ मालगोदाम तथा एक धर्मशाला भी है। हम लोग इस बन्दर से फिर रेल द्वारा रात के लगभग ग्यारह बजे रामेश्वर स्टेशन पर पहुँचे और पण्डा गंगाराम पीताम्बर द्वारा निर्धारित एक दुमंजले मकान में ठहरे। स्टीमर से उतरकर रामेश्वर द्वीप की रेलगाड़ी में चढ़ते समय माँ को पकड़कर चढ़ाना पड़ा और इस कारण एक पोटली भी खो गयी।

रामेश्वर-मन्दिर के चारों ओर ब्राह्मणों या पण्डों के ५०-६० परिवार रहते हैं। अन्य जातियों के लोग भी हैं। यहाँ हर सम्प्रदाय के साधुओं के मठ हैं। यह स्थान एक छोटे नगर जैसा है। बाजार में सभी चीजें मिलती हैं। कुछ धर्मशालाएँ तथा पण्डों द्वारा बनवाये गये कुछ यात्रि-निवास भी हैं। ये पण्डे उत्तर भारतीय भाषाएँ नहीं जानते, अत: कार्य में सुविधा की दृष्टि से दो-एक उत्तर भारतीय कारिंदे रखते हैं। रामेश्वर में सर्वत्र कुँओं का मीठा पानी मिलता है, जलाभाव नहीं है। द्वीप बालुकामय है और बबूल के वृक्षों से भरा है, खेती नहीं होती। अधिकांश द्वीपवासी आजीविका हेतु दान पर निर्भर हैं। द्वीप मदुरै जिले के अर्न्तगत आता है तथा रामनाद-नरेश की जमींदारी में पड़ता है। ❖ **(क्रमश:)** ❖

मुसलमान और हिन्दू कवियों में विचार-साम्य

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

सभ्यता के आदि काल से लेकर आज तक जितनी बड़ी-बड़ी बातें साहित्य के पृष्ठों में लिखी हुई मिलती हैं, उनके बाह्य रूपों में साम्य होने पर भी, वे एक ही सत्य का प्रकाश देती हैं। आज तक मानवीय सभ्यता जहाँ कहीं एक दूसरी सभ्यता से टक्कर लेती आयी है, वहाँ उसके बाह्य रूपों में ही वैषम्य रहा है; वेश-भूषणों, आचार-व्यवहारों तथा उच्चारण और भाषाओं का ही बहिरंग भेद रहा है। उन सभ्यताओं के विकसित रूप देखिए, तो वहाँ एक ही सत्य की अटल अपार महिमा मिलती है। थोड़ी देर के लिए, उदाहणार्थ, हम मुसलमानों को ले सकते हैं। शताब्दियों तक मुसलमानों से हिन्दुओं की लड़ाई होती रही। ... जगह-जगह मौके-बेमौके, आज भी दोनों एक-दूसरे की जान ले लेने को तैयार हो जाते हैं। बहुत कम हिन्दू और बहुत कम मुसलमान ऐसे होंगे, जो इनमें से एक दूसरे के उत्कर्ष का पूरा-पूरा पता रखते हों। मुसलमानों के आक्रमण के समय से लेकर आज तक, दोनों जातियों में जो घृणा के भाव चले आ रहे हैं, वे दोनों जातियों की अस्थि-मज्जा में कुछ इस तरह से मिल गये हैं कि सुप्त रहते हुए भी वे जाग्रत् ही रहते हैं। हिन्दू लोग, आचारों को प्रधानता देते हुए, खुदापरस्त मुसलमानों को म्लेच्छ आदि नामों से विभूषित करते हैं। उसी तरह मुसलमान भी हिन्दुओं को मूर्तिपूजक देखकर उन्हें बुतपरस्त, काफिर आदि घृणासूचक शब्दों से याद करते हैं। सदियों से यह व्यवहार कुछ ऐसा चला आ रहा है कि दोनों के विचारों में जहाँ साम्य है, वहाँ तक पहुँचकर दोनों में मैत्री-स्थापना की कोई चेष्टा ही नहीं की गयी। जिन हिन्दुओं को '**आचारः प्रथमो धर्मः**' सिखलाया जाता है, और यह इसलिए कि आचारों से चित्त-शुद्धि होने पर मन में ज्ञान या सत्य की प्रतिष्ठा हो सकेगी, वे हिन्दू आचारों में इस बुरी तरह बँध जाते हैं कि आचार ही उनकी आध्यात्मिक उन्नति के अन्तिम लक्ष्य से बने रहते हैं, यद्यपि **– अघोरान्नापरो मंत्रः** – का वे प्रतिदिन पाठ किया करते हैं। इधर मुसलमानों को बुत ही से खुदा का पाठ मिला, पर वे बुत को घृणा ही करते गये, केवल काव्य में ही रह गया –

परिस्तिश की याँ तक कि ऐ बुत, तुझे
नजर में सभों की खुदा कर चले।

किन्तु बुतों के प्रति ये भाव उनके नहीं रह गये, यद्यपि बुत-रूपी अपने बीबी-बच्चों को सभी मुसलमान प्यार करते हैं। आज, इस विज्ञान के युग में, पश्चिम की रोशनी से जैसे राष्ट्रवादी हिन्दू अपने गृह का अँधेरा दूर करने को प्रयत्नशील हैं, वैसे ही मुसलमान भी। परन्तु स्वार्थ एक अजीब सत्ता है। यहाँ प्राणों का भरा हुआ आनन्द बिलकुल ही नहीं, सिर्फ एक अभाव की आग भड़कती है। देश दीन है, दुखी है, परतंत्र है, स्वाधिकार-रहित है, ऐसी अभाववाली जितनी भी बातें होंगी; वे जैसी प्राणहीन हैं, उनकी पूर्ति के लिए लड़ाइयाँ आदि भी वैसी ही प्राणहीन हैं। कारण, स्वार्थ ही दोनों का मूल है। यदि ब्रिटेन के वीर सिंह हैं और भारत के दीन कृषक भेड़, तो विचार की दृष्टि में, दार्शनिक की भाषा में, दोनों मनुष्यता से गिरे हुए हैं, और आधुनिक विकासवाद के अनुसार सिंह और मेष में कौन-सी सृष्टि अधिक उच्च है, यह बताना भी जरा टेढ़ी खीर है। मतलब यह कि जिस विज्ञान के बल पर पश्चिम सिंह बन सकता है, वह जैसे मनुष्यता की हद से गिरा हुआ होता है, वैसे ही हिन्दुओं का ज्ञान-मूलरहित आचारवाद, जिसने सदियों से उन्हें गुलाम बना रखा है; और मुसलमानों की खुदापरस्ती भी, जो बुतों से घिरी हुई रहकर भी उनकी सत्ता से घृणा करे।

हिन्दू और मुसलमान, दोनों जातियाँ ऊँची भूमि पर एक ही बात कहती हैं। इस लेख में हम यही दिखाने की चेष्टा करेंगे। साथ ही हमारा यह भी विश्वास है कि जब तक हिन्दू और मुसलमान इस भूमि पर चढ़कर मैत्री की आवाज नहीं लगायेंगे, तब तक वह स्वार्थजन्य मैत्री, स्वार्थ में धक्का न लगने तक की ही मैत्री रहेगी – वैसी ही मैत्री, जैसी ब्रिटिश-सिंह और भारत-गऊ की हो सकती है।

न था कुछ तो खुदा था, कुछ न होता तो खुदा होता;
डुबोया मुझको होने ने, न होता 'मैं' तो क्या होता।
(गालिब)

– "जब कुछ नहीं था, तब खुदा था। यदि कुछ न होता, तो खुदा होता। मुझे होने ने (भव ने, संसार ने, 'हूँ, – इस भाव ने) डुबा दिया। 'मैं' न होता तो क्या (अच्छा) होता !"

महाकवि गालिब के ये भाव हर्फ-हर्फ वेदान्त से मिलते हैं। जब कुछ नहीं था, तब खुदा था – यही वेदान्त की तथा हिन्दू आस्तिक और नास्तिक दर्शनों की बुनियाद है। जहाँ ईश्वर की सत्ता है, वहाँ संसार नहीं। गोस्वामीजी लिखते हैं – **जिहि जाने जग जाय हेराई**। यहाँ दोनों के भाव एक ही हैं। 'होने' ने या 'भव' ने गालिब को डूबा दिया है अर्थात् दुनिया के ज्ञान ने उन्हें ससीम कर दिया है, संसार में डाल रखा है, जिसके लिए वे कहते हैं – यह न होता तो क्या ही अच्छा होता ! केवल खुदा का ही अस्तित्व रहता, जिसके लिए कहा है – "None else exists and thou art that." कबीर भी कहते हैं – जहाँ ज्ञान रहता है, वहाँ मोह नहीं रहता –

सूर-परकास तहँ रैन कहँ पाइये,
रैन-परकास नहीं सूर भासै;
होय अज्ञान तहँ ज्ञान कहँ पाइये,
होय जहँ ज्ञान आज्ञान नासै ।
काम बलवान तहँ प्रेम कहँ पाइये,
होय जहँ प्रेम तहूँ काम नाहीं;
कहत कबीर यह सत्य सुविचार है,
समझ तू, सोच तू, मनहि माहीं ।

आज तक मनुष्यों के मनों ने जितनी ऊँची उड़ाने भरी हैं, वे सब यहीं आकर ठहरती हैं। अन्यथा लक्ष्य-भ्रष्ट हो गयी हैं। संसार के जितने भी चमत्कार हैं, उन सब पर प्रभुता करनेवाली यही भूमि है; और संसार में जितने भी भेद हैं, उन सबमें साम्य स्थापित करनेवाली भी यही भूमि है। बिना यहाँ आये हुए भेद-ज्ञान कदापि दूर नहीं हो सकता। यही हिन्दुओं की अद्वैत-भूमि है। और चूँकि यहाँ भेद-भाव नहीं रह जाता, इसीलिए इसे अद्वैत भी कहा है। नजीर कहते हैं –

तनहा न उसे अपने दिले तंग में पहचान;
हर बाग में, हर दश्त में, हर संग में पहचान ।
बैरंग में, बारंग में, नैरंग में पहचान;
मंजिल में, मुकामात में, फरसंग में पहचान ।
नित रूप में, औ हिन्दू में, औ जंग में पहचान;
हर रात में, हर साथ में, हर संग में पहचान ।
हर आन में, हर बात में, हर ढंग में पहचान;
आशिक है, तो दिलबर को, हर रंग में पहचान ।।

यहाँ दुनिया की लावण्यमयी श्री भी है और वहाँ उस प्यारे की खोज भी। यहाँ यह विशिष्टाद्वैतवाद कहलाता है। यानी दुनिया भी है और खुदा भी। या यों कहिए कि वह खुदा ही दुनिया के अनेक रूपों में विराजमान है। गोस्वामीजी की एक उक्ति इसी अर्थ पर बहुत ही सुन्दर हुई है –

अव्यक्तमेकमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने,
षट कन्ध, शाखा पंचविंश, अनेक पर्ण सुमन घने;
फल युगल विधि कुट मधुर बेलि अकेलि जिहि आश्रित रहे,
पल्लवित, फूलित, नवल नित संसार-विटप नमामि हे ।

यहाँ राम को ही उन्होंने वेद के मुख से संसार-विटप कहकर सम्बोधित किया है, जिसकी तारीफ में संसार की कोई वस्तु छोड़ी भी नहीं, जैसे तमाम संसार में राम ही का रूप भर रहा हो। एक जगह महाकवि गालिब कहते हैं –

तेरे सर्वे कामत से एक कद्दे आदम,
कयामत के फितने को कम देखते हैं ।

यहाँ महाकवि गालिब कयामत को एक आदमी-भर लम्बी बतलाते हैं, यानी कयामत उतनी ही बड़ी है, जितना लम्बा एक आदमी है। यह प्रलय की सर्वोत्तम व्याख्या है। हर आदमी में प्रलय की नाशकारी कुल शक्तियाँ हैं, और वह चाहे तो उन्हें प्रत्यक्ष कर सकता है। हर मनुष्य सौर-ब्रह्माण्ड से मिला हुआ भी उससे अलग है। संसार का अस्तित्व उसके पास सिर्फ इसलिए है कि वह अपने अस्तित्व पर विश्वास रखता है। जब मनुष्य सो जाता है, उस समय वह अपना अस्तित्व बहुत-कुछ भूल जाता है। यही कारण है कि सुप्ति-काल में संसार का ज्ञान नहीं रहता। संसार के सिर पर जो कयामत क्रीड़ा कर रही है, उसको प्रत्यक्ष करनेवाला वही है, और उसका शरीर भी कयामत के कानून के अन्दर है। इसलिए कयामत को एक ही आदमी के कद के बराबर कहा, और यह केवल साहित्यक उपमा ही नहीं, किन्तु दार्शनिक महान् सत्य हो गया है।

बिल्कुल यही भाव सूरदासजी के हैं, जहाँ उन्होंने बालक कृष्ण का वर्णन किया है – **प्रभु पौढ़े पालने पलोटत** आदि। यहाँ भी श्रीकृष्ण के हिलने-डुलने से जो क्रिया होती है, वह प्रलय ही है – **विडरि चले धन प्रलय जानि कै**। कारण, किसी भी चेतन के हिलने से सौर-ब्रह्माण्ड हिलता-डुलता है, यह सूरदासजी के कहने का मतलब है। श्रीकृष्ण की चेतना-क्रिया में संसार डोल रहा है, कहीं-कहीं प्रलय हो रहा है, दिग्दन्ती बड़े धैर्य से धरा-भार को धारण कर रहे हैं। यहाँ भी एक ही की चेतन-क्रिया से संसार में कयामत आ रही है, प्रलय मचा हुआ है, और इसे समझनेवाले सूरदासजी कहते हैं – **सकट पगु पेलत** – धीरे-धीरे चल रहे हैं। गालिब और सूरदासजी की उक्तियाँ बिलकुल मिल जाती हैं। कोई विरोध नहीं दीख पड़ता। वहाँ भी एक ही कद के बराबर कयामत की नाप होती है और यहाँ भी एक कृष्ण की चेतन-क्रिया से आफत उठी हुई है। दोनों महाकवि इस सत्योक्ति में पूर्णतया सहमत हैं।

कुछ जुल्म नहीं, कुछ जौर नहीं,
कुछ दाद नहीं, फरियाद नहीं;
कुछ कैद नहीं, कुछ बन्द नहीं,
कुछ जब्र नहीं, आजाद नहीं ।
शागिर्द नहीं, उस्ताद नहीं,
वीरान नहीं, आबाद नहीं;
हैं जितनी बातें दुनिया की,
सब भूल गये कुछ याद नहीं ।
हर आन हँसी, हर आन खुशी,
हर वक्त अमीरी है बाबा;
जब आशिक मस्त फकीर हुए,
फिर क्या दिलगीरी है बाबा !
जिस सिम्त नजर कर देखे हैं,
उस दिलबर की फुलवारी है;
कहि सब्जी की हरियाली है,
कहिं फूलों की गुलकारी है ।

दिन-रात मगन खुश बैठे हैं,
और आस उसी की भारी है;
बस आप ही वह दातारी हैं,
और आप ही वह भण्डारी हैं ।
हर आन हँसी, हर आन खुशी
हर वक्त अमीरी है बाबा;
जब आशिक मस्त फकीर हुए,
फिर क्या दिलगीरी है बाबा !
हम चाकर जिसके हुस्न के हैं,
वह दिलबर सबसे आला है;
उसने ही हमको जी बख्शा,
उसने ही हमको पाला है ।
दिल अपना भोला-भाला है,
औ' इश्क बड़ा मतवाला है;
क्या कहिए और नजीर आगे,
अब कौन समझनेवाला है !
हर आन हँसी, हर आन खुशी,
हर वक्त अमीरी है बाबा;
अब आशिक मस्त फकीर हुए,
तब क्या दिलगीरी है बाबा !" (नजीर)

कविवर नजीर यहाँ फकीरी का हाल बयान कर रहे हैं। यह वह फकीरी है, जिसमें सारी दुनिया में अपना इष्ट-ही-इष्ट नजर आता है। संसार की हर वस्तु में उसी का रंग चढ़ा देख पड़ता है। प्रह्लाद के चरित्र-लेखक दिखलाते हैं कि शेर आता है, तो उससे भी प्रह्लाद – 'हरि आये' कहकर लिपट जाते हैं। नरसीजी भूत देखते हैं, तो – 'आये मेर लम्बकनाथ' कहकर गाने और प्रेमविह्वल होकर नाचने लगते हैं। एक सिद्ध श्वान पर बैठा हुआ भोजन कर रहा था, और कभी-कभी अपना अन्न उस कुत्ते को भी खिला दिया करता था। दूर से कुछ लोगों ने यह तमाशा देखा। उसके पास गये। बोले, "तुम कुत्ते की जूठन खाते हो, कैसे आदमी हो?" वह सिद्ध बड़ी देर तक चुप रहा। तब भी इन लोगों ने अपना व्याख्यान बन्द नहीं किया। तब चिढ़कर वह सिद्ध कहता है –

विष्णूपरि स्थितो विष्णुः विष्णुं खादति विष्णवे ।
कथं हससि रे विष्णो, सर्वं विष्णुमयं जगत् ।।

सूरदासजी इन्हीं भावों पर कहते हैं –

जित देखो तित श्याममयी है;
श्याम कुंज, वन, यमुना श्याम,
श्याम गगन-घन-घटा छई है ।
श्रुति को अच्छर श्याम देखियत,
दीप-शिखा पर श्यामतई है;
मैं बौरी की लोगन ही की
श्याम पूतरिया बदल गई है ।
इन्द्र-धनुष को रंग श्याम है,
मृग-मद श्याम, काम विजयी है,
नीलकण्ठ को कण्ठ श्याम है,
मनो श्यामता बेलि बई है ।।

कवि के भाव-नेत्र चारों तरफ श्याम को ही प्रत्यक्ष करते हैं। तमाम संसार में वह एक ही श्याम-छवि रमी हुई है। रामायण में गोस्वामी तुलसीदासजी इस भाव की सुन्दर व्याख्या-सी कर देते हैं। जिस कारण से भक्त को चारों ओर यह इष्ट-मूर्ति दिखलायी पड़ती है, उस कारण की जड़ चित्त में है, जहाँ इष्ट की छाप पड़ जाने पर फिर और कोई रूप नहीं देख पड़ता, दूसरे रूपों की सत्ता छिप जाती है –

चित्रकूट चित चारु, तुलसी सुभग सनेह बन;
सिय-रघुबीर-बिहारु, सींचत माली नयन-जल ।

मृत्यु की नश्वरता को दिखाते हुए कवि नजीर कहते हैं –

जब चलते-चलते रस्ते में, यह गौन तेरी ढल जावेगी;
यह बधिया तेरी मिट्टी पर, फिर घास न चरने पावेगी ।
यह खेप जो तूने लादी है, सब हिस्सों में बँट जावेगी;
धी, पूत, जमाई, बेटा क्या, बनजारन पास न आवेगी ।
सब ठाट पड़ा रह जावेगा, जब लाद चलेगा बंजारा ।
क्या जी पर बोझ उठाता है, इन गोनों भारी-भारी के
जब मौत का डेरा आन पड़ा, तब दोनों है व्यापारी के ।
क्या साज जड़ाऊ जर जेवर, क्या गोटे थान किनारी के
क्या घोड़े जीन सुनहरी के, क्या हाथी लाल अमारी के।
सब ठाट पड़ा रह जावेगा, जब लाद चलेगा बंजारा ।
मगरूर न हो तलवारों पर, मत भूल भरोसे ढालों के;
सब पट्टा तोड़ के भागेंगे, मुँह देख अजल के भालों के ।
क्या डिब्बे मोती-हीरों के, क्या ढेर खजाने मालों के;
क्या बकचे ताश मुशजर के, क्या तख्ते शाल-दुशालों के
सब ठाट पड़ा रह जावेगा, जब लाद चलेगा बंजारा ।

नश्वर संसार का जो चित्र यहाँ विवेक को जाग्रत् करने के लिए नजीर साहब ने खींचा है, उसका प्रभाव हिन्दू कवियों पर पहले ही से बहुत ज्यादा रहा। नश्वरता पर प्राय: यहाँ के सभी कवियों ने कविताएँ लिखी हैं। भगवान शंकराचार्य आदि धर्म-प्रचारकों से लेकर आधुनिक कवियों तक में यह भाव यहाँ परिपुष्ट ही मिलता है –

कस्त्वं कोऽहं कुत आयातः
का मे जननी को मे तातः ।
इति परिभावय सर्वमसारं
विश्वं त्यक्त्वा स्वप्न-विचारम् ।।
पुनरपि जननं पुनरपि मरणं
पुनरपि जननी-जठरे-शयनम् ।
इह संसारे खलु दुस्तारे
कृपयाऽपारे पाहि मुरारे ।।
पुनरपि रजनी पुनरपि दिवसः
पुनरपि पक्षः पुनरपि मासः ।

पुनरप्ययनं पुनरपि वर्षं
तदपि न मुंचत्याशामर्षम् ।। (शंकराचार्य)

चढ़कर मेरे जीवन-रथ पर
प्रलय चल रहा अपने पथ पर;
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर
उससे हारी होड़ लगायी ।। (जयशंकर 'प्रसाद')

लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरन्तर,
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षःस्थल पर;
शत-शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फुत्कार भयंकर,
घुमा रहे नित घनाकार जगती का अम्बर,
मृत्यु तुम्हारा गरल-दन्त, कंचुक कल्पान्तर,
अखिल विश्व ही विवर, वक्र-कुण्डल दिङ्-मण्डल!

अये दुर्जेय विश्वजित! नवाते शत सुरवर नरनाथ,
तुम्हारे इन्द्रासन-तल माथ, घूमते शत-शत भाग्य अनाथ
सतत रथ के चक्रों के साथ ।

तुम नृशंस नृप-से जगती पर चढ़ अनियंत्रित,
उत्पीड़ित संसृति को करते हो पदमर्दित,
नग्न नगर कर भग्न भवन, प्रतिमाएँ खण्डित,
हर लेते हो विभव, कला-कौशल चिरसंचित,
आधि-व्याधि बहुवृष्टि पात उत्पात अमंगल,
वह्नि, बाढ़, भूकम्प, तुम्हारे विपुल सैन्यदल,
अये निरंकुश पदाघात-से वसुधा टलमल,
हिल-हिल उठता है प्रतिपल पद-दलित धरातल !
(सुमित्रानन्दन पन्त)

नश्वरता को प्रत्यक्ष करा देने पर, जरा देर के लिए मन में वैराग्य का उदय होता है। फिर वह वैराग्य यदि स्थायी हो, तो मनुष्य संसार की नश्वर वस्तुओं से प्रेम करना छोड़कर एक ऐसी ज्ञान-स्थिति प्राप्त करता है, जिससे उसे यथार्थ शान्ति मिलती है। जिस तरह हिन्दुओं में वैराग्य की यह शिक्षा मिलती है, उसी तरह मुसलमानों में भी। सूफ़ीवाद में तो ज्ञान, वैराग्य और मादकता – तीनों की प्रधानता है। मुसलमानों के दर्शन में तो नहीं, पर हाँ, कुरान के साथ अद्वैतवाद की सूक्तियाँ जरूर मिल जाती हैं। पर कविता में और सूफ़ियाने ढंग की कविता में यहाँ के बड़े-बड़े दर्शन-शास्त्र का तो बिलकुल जोड़ मिल जाता है। खान-पान और रहन-सहन का भेद रहने पर भी जिस विकास की ओर मुसलमान-सभ्यता गयी है, वह यहाँ से कोई पृथक् सत्ता नहीं। कुरान का असल तत्त्व जो '**ला इलाह इल्लिल्लाह**' है, वह '**एकमेवाद्वितीयम्**' का अक्षर-अक्षर अनुवाद है। हम यह नहीं कहते कि कुरान की उक्ति अनुवाद के रूप में आयी है, क्योंकि हमें मालूम है, ईश्वर को प्रत्यक्ष करनेवाले महापुरुष एक ही सत्य का प्रचार करते हैं। और, जिस तरह हिन्दुओं के महापुरुषों ने सत्य से ओत-प्रोत एक ही ज्ञानमय कोष का तत्त्व हासिल किया, उसी तरह मुहम्मद ने भी तपस्या द्वारा '**अवाङ्मनसगोचर**' सत्य का साक्षात्कार किया। सिन्धु और बिन्दु की उक्ति से ब्रह्म और जीव की जो बातें भारतीय साहित्य में मिलती हैं, वही मुसलमान कवियों की कविता में, दरिया और क़तरे के रूप से आयी हैं।

तुमहिं मिलत नहिं होय भय,
यथा सिन्धुगत नीर ।। (तुलसीदास)
इशतरे-कतरा है दरिया में फना हो जाना । (गालिब)
यक क़तरए-मय जब से साकी ने पिलाया है,
उस रोज से हर कतरा दरिया नजर आता है ।।

खुदनुमाई पर की गयी वह गुफ्तगू याद आती है, जो अपनी बाँदी के साथ शायद बेगम नूरजहाँ ने की थी, जब उसका चीनी आइना बाँदी के हाथ से गिरकर फूट गया था और बाँदी के मुँह से महर्षि वाल्मीकि की तरह, एकाएक यह शेर का एक टुकड़ा निकल पड़ा था –

अज क़जा आईनए-चीनी शिकश्त ।
खूब शुद सामाने खुदबीनी शिकश्त ।।

यह मेहरुन्निसा का उत्तर था। पूरे हिन्दोस्तान की साम्राज्ञी के हृदय में भी वैराग्य की यह भावना प्रबल थी, वह शिक्षा जो गोस्वामी तुलसीदास-जैसे महापुरुष ही दे सकते हैं –

सेवहिं लखन सीय रघुवीरहिं,
जिमि अविवेकी पुरुष शरीरहिं ।।

एक तरफ लक्ष्मण और सीताजी धर्म-भावना से प्रेरित होकर श्रीरामचन्द्र की सेवा करते हैं, जैसे अपने परम इष्ट की सेवा की जाये; दूसरी तरफ महाकवि शिक्षा से भरी हुई उसकी उपमा में कहते हैं – जैसे अविवेकी पुरुष अपने शरीर की सेवा करते हैं – उसे किसी क्षण के लिए भी नश्वर नहीं समझते। यहाँ शरीर-ज्ञान में बँधे हुए मनुष्य सदा ही नश्वरता के ग्रास में पड़े रहते हैं, यह भावना भी उद्दीप्त होती है, और आलंकारिक व्यंजना श्रीरामचन्द्र की तल्लीन सेवा का बोध भी अच्छी तरह करा देती है – एक ढेले में दो पक्षियों का शिकार हो गया है।

तुम मेरे पास होते हो गोया,
जब कोई दूसरा नहीं होता। (गालिब)

यह बहुत ऊँचे दर्जे का प्यार है। सच्चा प्यार भी यही है। लोग इसका अर्थ यह भले ही करें कि निर्जन रहने पर ही प्रिय की याद आती है – दिल के आईने में उसकी सूरत दीख पड़ती है, पर इसका मतलब वह नहीं। यह सांसारिक प्रेम नहीं, यह ईश्वर-प्रेम है। जब मन बिलकुल निस्संग हो जाता है, किसी भी दूसरे से लगावट नहीं रहती, तभी मन में ईश्वर का ध्यान आता है, भगवत-संग प्राप्त करता है, वह मित्र – जिसके लिए कहा जाता है – **राम प्राण के जीवन जी के** – मिलता है, साथ रहता है, इसी क्षण को इष्ट-प्राप्ति का

समय कहते हैं, और इसी अवस्था में वह मिलता भी है। कविवर मैथिलीशरण कहते हैं –

प्रभो, तुम्हें हम कब पाते हैं,
जब इस जनाकीर्ण जगती में, एकाकी रह जाते हैं।

जौक के एक शेर में परलोक, यहाँ तक कि अर्थ लगाने पर हिन्दुओं के पितृलोक, देवलोक, प्रेतलोक आदि की सिद्धि भी हो जाती है –

अब तो घबरा के यह कहते हैं, कि मर जायेंगे,
मर के भी चैन न पाया, तो किधर जायेंगे ।। (जौक)

मृत्यु के बाद चैन न पाने की उक्ति परोक्ष रीति से उसी प्रेतयोनि को सिद्ध कर रही है, जहाँ जीवों को शान्ति नहीं मिलती, एक प्रकार की जलन, क्षोभ, अशान्ति तथा चंचलता बनी रहती है। इसके अर्थ से प्रेतलोक की सिद्धि कोई भले ही न करे, पर इतना तो जाहिर ही है कि मृत्यु के बाद अशान्ति की चिन्ता कवि को लगी हुई है। वह इस पर भी विश्वास करता है। दूसरे, महाकवि गालिब को भी जौक का यह शेर पसन्द आता है। इसके मानी ये हैं कि इस तत्त्व पर वे भी विश्वास करते हैं, बहिश्त और दोजख तो मुसलमानों के शास्त्र मानते ही हैं, जहाँ हिन्दुओं का बिलकुल साम्य है। वह बेचैनी की हालत, जो मृत्यु के बाद होती है, और उस मृत्यु के बाद जिसे आत्महत्या कहते हैं – 'मर जायेंगे' के अर्थ से असमय मृत्यु या आत्महत्या का ही भाव व्यंजित है – बहुत कुछ उसी अवस्था का वर्णन है, जो प्रेतयोनि में होती है। यहाँ हिन्दू और मुसलमान मृत्यु के बाद के एक ही विचार रखते हुए देख पड़ते हैं। यों तो प्रेत या जिन्न मुसलमानों के यहाँ भी कम नहीं –

जिन्नों ने वहीं अपना मैखाना बना डाला।

और, रात बारह बजे शहर-भर की मिठाई खरीद लेनेवाले लखनऊ के जिन्न अब भी देहात में काफी मशहूर हैं, वे आजकल की व्याख्या के अनुसार मुँह ढँककर आनेवाले छज्जे पर बैठनेवालियों के यार और आशिक भले ही हों, अथवा चाहे लखनऊ की प्राचीन व्याख्या के अनुसार १२ लाख साफ करने के बाद रईसों के शोहदा-खाते में नाम लिखानेवाले हों। हिन्दी में तो –

भूत-पिशाच निकट नहिं आवे,
महावीर जब नाम सुनावे । से लेकर –

साबर-मंत्र-जाल जिन सिरजा, प्रेत-पितर-गन्धर्व,
बन्दौं किन्नर, रजनिचर, कृपा करहु अब सर्व ।।

तक पता नहीं, इस परलोकवाद की कितनी चर्चा हुई है, और समाज में इस पर कितना दृढ़ विश्वास है; जबकि ज्ञान की जननी गीता स्वयं कहती है –

पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।

और केशवदास का प्रेत होना तमाम साहित्यिकों के दिमाग में भरा ही हुआ है, उधर गोस्वामी तुलसीदास जी की जीवनी से – **बसै तहाँ इक प्रेत पुरानो**, जबकि अभी तक नहीं निकाला गया, और उन्हें भगवान श्रीरामचन्द्र से मिलने का पता भी बताता है प्रेत !

जहाँ में हाली किसी का अपने
सिवा भरोसा न कीजिएगा,
यह भेद है अपनी जिन्दगी का
कि इसकी चर्चा न कीजिएगा।

हाली साहब जिस तरह यहाँ हर एक को अपनी ही सत्ता पर जोर देने के लिए कहते हैं, और इसी को वे दुनिया में कामयाब होने की कुंजी समझते हैं, वैसे ही यहाँ के हिन्दुओं की भी शिक्षा है – **नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः, न मेधया न च बहुना श्रुतेन** – इसमें सबसे कठिन कार्य आत्म-प्राप्ति के लिए जिस-तरह मनुष्य को अभ्यन्तर-बल प्राप्त करने के उपदेश दिये गये हैं, उसी तरह अन्य सफलताओं के लिए भी। यथार्थ बल अपने ही भीतर से प्राप्त होता है, जिससे कुल सिद्धियाँ हासिल होती हैं, यही यहाँ की शिक्षा है। इस प्रकार मन को प्रसन्न करने के लिए ही कहा है –

मन के हारे हारिए, मन के जीते जीत।
परब्रह्म को पाइए, मन ही की परतीत ।।

यहाँ के साहित्य में अपनी ही आत्मा पर विश्वास रखने के केवल उपदेश ही नहीं, किन्तु जीवनियाँ भी अनेक लिखी हुई हैं। इस कोटि में स्त्री और पुरुष दोनों को बराबर जगह मिली है। पार्वती तपस्या में दृढ़निष्ठ हैं। वे महादेव को पति रूप से प्राप्त करना चाहती हैं। उनकी तपस्या की परीक्षा करने, उनके मनोबल को तोलने के इरादे से ऋषि उनसे कहते हैं – "तुम क्यों व्यर्थ ही शिव-जैसे एक पागल के पीछे पड़ी हो? इससे तो अच्छा है कि विष्णु की कामना करो। वे सुन्दर हैं और सब तरह से महादेव से श्रेष्ठ हैं।" यह सुनकर पार्वती का उत्तर नम्र होकर भी दृढ़ होता है। वह अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहती हैं। कहती हैं –

सत्य-सत्य शिव अशिव-घर विष्णु सकल-गुण-धाम;
जाके मन रम जाहि सँग, ताहि-ताहि सन काम ।।

उद्धव को अपने ज्ञान का गर्व है। श्रीकृष्ण उनका यह अहंकार तोड़ना चाहते हैं। साथ ही, एक दूसरे मन का बल भी उन्हें दिखाना चाहते हैं। इस विचार से वे उद्धव को अखिल व्यापक निरंजन ब्रह्म का उपदेश करने के लिए गोपियों के पास भेजते हैं। उद्धव गोपियों के बीच में व्यापक ब्रह्म की कथा सुनाते हैं, और गोपियाँ बार-बार उनसे श्रीकृष्ण का कुशल तथा अन्य संवाद पूछती हैं, बार-बार उद्धव को उनके विषय से अलग कर देती हैं। पर वे भी अपने ज्ञान-हठ पर अड़े रहते हैं। वे भी बार-बार वैराग्य की वाणी के

प्रभाव से उनका प्रेमजन्य मोह दूर कर देना चाहते हैं। पर गोपियों का प्रेम शरीर-प्रेम नहीं था। उसमें श्रीकृष्ण की चेतन सत्ता थी, जिससे उनके हृदय का मोहान्धकार दूर हो चुका था। वे प्रेम ही की वाणी में जो उत्तर देती हैं, उसका फिर प्रत्युत्तर उन्हें उद्धव से नहीं मिलता –

ऊधो, मन न होहिं दस-बीस।
एक रह्यो सो गयो स्याम सँग,
काह करब अज, ईस? और –
राधे-दृग-सलिल प्रवाह में सुनौ हो ऊधौ,
रावरे समेत ज्ञान-गाथा बहि जावैगी ।।

आदि सुनकर प्रेम के प्रभाव से उद्धव मौन ही रह जाते हैं। यह यहाँ का मानसिक बल है, अपना अटल विश्वास, जिससे अपने सम्पूर्ण कार्य सार्थक हो जाते हैं। यहीं अँगरेजों का cocentration power (एकाग्रता-शक्ति) है। The real I is real He अर्थात् यथार्थ मैं और यथार्थ वह (ईश्वर) एक ही है, अत: अपने पर यथार्थ विश्वास और उस पर अकृत्रिम विश्वास एक ही है।

जन्म कोटि शत रगर हमारी,
बरौं शम्भु, न तु रहौं कुमारी ।।

यह अपनी शक्ति पर विश्वास है, और –

नट-मरकट इव सबहिं नचावत,
राम खगेस, वेद अस गावत ।।

यह ईश्वर पर किया गया विश्वास है। यहाँ ईश ही की शक्ति सफल-काम है।

हिन्दुओं और मुसलमानों के सामाजिक आचार-व्यवहार और वेश-भूषण आदि निस्सन्देह एक-दूसरे से नहीं मिलते, परन्तु यह कोई बहुत बड़ा भेद नहीं। कारण, मनुष्य की जाँच उसकी मनुष्यता और उसके उत्कर्ष से होती है, और वहाँ ये दोनों जातियाँ एक ही पथ की पथिक तथा एक ही लक्ष्य पर पहुँची हुई जान पड़ती हैं। हिन्दू सभ्यता बहुत पुरानी है और मुसलमान-सभ्यता हिन्दुओं के मुकाबले बहुत आधुनिक। यह तो हम दावे के साथ कहेंगे कि जहाँ भी सभ्यता ने अपने उत्कर्ष के प्रति संसार को आकृष्ट करना चाहा है, जहाँ कहीं उसकी सुप्त अपार शक्ति जाग्रत् हुई है, वहीं, किसी-न-किसी रूप में, प्रत्यक्ष या प्रकृति की अपर शक्तियों की तरह परोक्ष रीति से, हिन्दू-सभ्यता के बीज संचालित हो गये हैं। आज संसार में जितने भी धार्मिक विचार अपना आधिपत्य जमाये हुए हैं, वे सब हिन्दुओं के किये हुए विचारों के अनुवाद-से प्रतीत होते हैं। हमारा विचार है, कि यह हिन्दुओं की ही मानसिक दुर्बलता है, जिसके कारण वे हर तरह से पराधीन हो रहे हैं। यदि वे अपने-आपको पहचानें, तो उनके भीतर के भेद-भाव तो दूर हों ही, किन्तु संसार में एक अद्भुत साम्य का प्रचार भी हो, जिसकी अब तक संसार के लोग प्रतीक्षा कर रहे हैं। जहाँ प्रतिद्वन्द्विता के भाव प्रबल हैं, वहाँ मानवीय शक्ति नहीं, पशु-शक्ति काम करती है, चाहे कितने ही बड़े-बड़े शब्दों तथा वाक्यों की आवृत्ति वहाँ की जाये।

मानवीय प्राथमिक शक्ति का विकास ही कार्य की शक्ति है। धर्म के अनुकूल चलकर शक्ति को विकसित करना, यही शास्त्रीय शिक्षा है। पर आज इसके प्रमाण बहुत कम रह गये हैं। पाशविक वृत्तियों की प्रबलता मानवीय वृत्ति को, जिसे प्रवृत्ति कहते हैं, दबाये हुए हैं। युगधर्म ही कुछ ऐसा बन रहा है कि प्रवृत्तिमूलक बातें परम रुचिकर मालूम होती हैं, यद्यपि उनसे पतन के सिवा एक इंच भी उत्थान की गुंजाइश नहीं है। यही कारण है कि समाज के विवेक की तुला टूट गयी है। बड़े-से-बड़े और छोटे-से-छोटे, सब मनुष्य, सब सम्प्रदाय अन्धानुसरण को ही सनातन-धर्म या अपना सच्चा मजहब समझ रहे हैं। उधर विज्ञान के प्रकाश ने वहाँ के मनुष्यों के हृदय से यह विश्वास ही दूर कर दिया है कि ईसा को भजोगे तो डूबते वक्त पानी में आप ही जमीन बन जायेगी। नास्तिकता का राज्य है, यहाँ अन्धानुकरण का। इस तरह संसार की अशान्ति कब दूर हो सकती है? मोटर, रेल, तार, जहाज, मशीनगन, एरोप्लेन, टारपीडो, मैन-ऑफ-वार और तीस मील की चाँदमारी करनेवाली तोपें, बम, तरह-तरह की विषैली बारूदें, हजारहा मशीनें, ये सब अभाव ही की आग भड़कानेवाले हैं; इनसे कुछ मनुष्यता की प्राप्ति नहीं होती। यूरोप में जो दो-चार मनीषी मनुष्यता के तत्त्व को समझकर उसका प्रचार तथा प्रसार करते हैं, उन्हें वहाँ की गवर्नमेंट से तिरस्कार ही मिलता रहता है। प्रभुता स्वयं अनिष्टकर है, इसलिए विभूतिपाद के आचार्यगण मनुष्यता के दायरे से सदा ही निकाले हुए रहे हैं। मनुष्यता किसी कीमत से नहीं मिलती। वह तो एक प्रकार की शिक्षा है, जिस पर अभ्यास दृढ़ हो जाने पर मनुष्य-मनुष्य कहलाता है। भारत की राष्ट्रोन्नति के लिए जो अनेक प्रकार की चर्चाएँ सुनने में आती हैं, उनसे प्रतीत होता है कि यहाँ लोगों की आँखों में यूरोप का ही चश्मा लगा हुआ होता है, और वे बेचारे झूठ बोलकर जिन्दगी-की-जिन्दगी पार कर देनेवाले भारतवर्ष के वकील-लीडर यह क्या जानें कि यहाँ की शिक्षा किस रंग की चिड़िया थी? भारतवर्ष में सबसे बड़ी दुर्बलता शिक्षा की है।

हिन्दुओं और मुसलमानों में विरोध के भाव दूर करने के लिए चाहिए कि दोनों को दोनों के उत्कर्ष का पूर्ण रीति से ज्ञान कराया जाये। परस्पर के सामाजिक व्यवहारों में दोनों शरीक हों, दोनों एक-दूसरे की सभ्यता को पढ़ें और सीखें। फिर जिस तरह भाषा में मुसलमानों के चिह्न रह गये हैं, और उन्हें अपना कहते हुए अब किसी भी हिन्दू को संकोच नहीं होता, उसी तरह मुसलमानों को भी आगे चलकर एक ही ज्ञान से प्रसूत समझकर अपने ही शरीर का एक अंग कहते

हुए हिन्दुओं को संकोच न होगा। इस दृढ़ बन्धुत्व के बिना, दोनों के गुलामी के पाश कट नहीं सकते, खासकर ऐसे समय जबकि फूट डालना शासन का प्रधान सूत्र है।

हिन्दुओं की जो मानसिक स्थिति पहले थी, वह मुसलमानों के आक्रमण-काल तक नहीं थी। पंच-देवताओं की उपासना में पड़े हुए हिन्दू द्वैतवादी हो रहे थे। यों तो भारतवर्ष की धार्मिक स्थिति भगवान बुद्ध से पहले ही बिगड़ गयी थी। बुद्ध के आने के बाद कुछ सुधरी, और यही कारण है कि बुद्ध-काल में कला के विस्तार के साथ-ही-साथ भारत की शासन-शृंखला भी सुदृढ़ हो गयी थी। आचार्य शंकर के आविर्भाव के पश्चात् भी भारतवर्ष की कुछ अच्छी अवस्था थी। पर देश सब तरह से मानसिक दुर्बल हो रहा था। वह शंकराचार्य द्वारा प्रचारित अद्वैतवाद की धारणा करने में समर्थ नहीं रहा। उसे एक ऐसे धर्म की जरूरत पड़ी, जो सरस हो, और गृहस्थों के सामने त्याग का महान् आदर्श न रख, उन्हें कोई प्रेम तथा पूजा का मार्ग बतलाये। मनुष्यों के मन के अनुकूल धर्म का भी उद्भव हो जाता है। भगवान रामानुज ने वैष्णव धर्म का प्रचार किया। इसमें ईश्वर और संसार – दोनों रहे। अद्वैत की सूक्ष्म छान-बीन नहीं रही। किन्तु रस से भरा हुआ एक दूसरा ही प्रेम-धर्म लोगों के सामने आया। चूँकि साधारण मनुष्य जन्म से ही मूर्ति-प्रेमी हुआ करता है, और संसार के अस्तित्व पर विश्वास रखता है, इसलिए उस समय के लोगों को विशिष्टाद्वैतवाद यह बहुत पसन्द आया। भारतवर्ष में आज भी अधिकांश मनुष्य इसी सम्प्रदाय की शाखा-प्रशाखाओं में शामिल हैं। परन्तु मूर्ति स्वयं ससीम होती है, इसलिए उसके उपासक भी, ससीम होने के कारण, भाव तथा क्रिया की भूमि में छोटे ही होते गये। महाभारत के समय से लेकर कई बार महापुरुषों ने भारतवर्ष को गिरने से रोकने की चेष्टायें कीं, पर स्वाभाविक गति में कोई रुकावट हो नहीं सकती। जिस हद तक इस देश को गिरकर पहुँचना था, उस अवश्यम्भावी परिणाम को कौन रोकता? वह गिरता ही गया। उधर दीन-इस्लाम की नयी रोशनी अद्वैतवाद से भरी हुई, फैली। उसका वह नवीन वेग कोई भी देश रोक नहीं सका। भारत भी जिस मानसिक अवस्था को प्राप्त था, उसके लिए हारना स्वाभाविक ही था। वह हारा। किसी भी बृहत् तथा व्यापक वस्तु या धर्म से कोई भी ससीम वस्तु या धर्म हार जाता है। ससीम हो रहने के कारण भारत की शक्ति भी खण्डश: हो रही थी। मुसलमानों की संगठित तलवारों की चोट से भारत का स्वाधीन दम्भ चूर-चूर हो गया।

हिन्दुओं के साथ मुसलमानों का यह प्रथम सम्बन्ध हुआ – जेता और विजित के भावों से। वे शासन भी करने लगे। उस समय के संगठित मुट्ठी-भर मुसलमान किस तरह आतंक की तरह पूरे भारतवर्ष में फैल गये, यह पढ़कर आश्चर्य होता है। उनकी दक्षता, उनकी कार्यपटुता के प्रभाव से राजपूत शक्ति ने भी उनका आधिपत्य स्वीकार कर लिया। जहाँ देखिए, जिस प्रान्त में देखिए, मुसलमानों का ही शासनाधिकार हो गया। पठानों के बाद मुगल आये। ऐय्याशी में पड़कर पठान दुर्बल हुए, और उसी ऐय्याशी ने मुगल-बादशाहत को बरबाद कर दिया। खैर, मुसलमानों के वे भाव, जो पहले से हिन्दुओं के प्रति थे, अब भी ज्यों-के-त्यों ही रह गये, और यह स्वाभाविक भी है। अभी हाल ही तक यह प्रचार किया जाता था कि एक मुसलमान ५० हिन्दुओं के लिए काफी है। और यह सब हिन्दुओं की ही कमजोरी है। इस समय कुछ को छोड़कर प्राय: सभी हिन्दू क्षुद्रतम सीमा में बँधे हुए हैं। यही कारण है कि देश शताब्दियों के लिए पिछड़ा हुआ नजर आ रहा है। मुसलमान भी अब वे मुसलमान नहीं रहे। इस प्रकार की कट्टरता मुर्खता से मिली हुई रह गयी है। इन दोनों जातियों के सुधार के लिए मनुष्यता की शिक्षा आवश्यक है; जिससे एक-दूसरे के प्रति प्रेम तथा आदर-भाव धारण करें। तब तक यूरोप का वर्तमान धर्म अवश्य ही नष्ट होगा। वहाँ विज्ञान की चर्चा से जिस नास्तिकता का उदय हुआ है, उससे सुफल के ही होने की सम्भावना है। चरम नास्तिकता और चरम आस्तिकता एक ही बात है। शून्य को चाहे कुछ नहीं कह लीजिए या सब कुछ। वह पूर्ण भी है और कुछ भी नहीं। यह आस्तिकवाद और नास्तिकवाद का रहस्य है। यही कपिल, बुद्ध और नास्तिक दर्शन कहते हैं और यही वेदान्त, गीता और पातंजल आदि आस्तिक दर्शन। यही सबसे ऊँची भूमि है। यहीं हिन्दू और मुसलमान परस्पर मिलते हैं। यूरोप के भौतिक विज्ञानवाद को एक सीढ़ी और चढ़ना है, बस। सब फैसला वही प्रकृति कर देगी, जिसने इतना सब चमत्कार पैदा किया है। फिर ये सब '**यथा पूर्वम् अकल्पयत्**' ही रहेंगे, अन्यथा मनुष्य की जीवन-प्रगति रुकेगी। मशीन के पहिये जितना तेज चलते हैं, आदमी की चाल उतनी ही द्रुत बन्द होती है। इस पर बहुत-कुछ लिखा-पढ़ी हो चुकी है और होती जा रही है। यही कारण है कि महात्माजी का चर्खावाद यहाँ की अपेक्षा यूरोप के किसानों को अधिक पसन्द आया है और वे अपने जीवन को अन्न-वस्त्रोत्पादन के पश्चात् शुभ चिन्तन में लगाने का प्रयत्न भी कर रहे हैं।

भारतवर्ष में जब तक तरह-तरह के वितण्डावाद चक्कर काट रहे हैं, तब तक यदि हिन्दू और मुसलमान अपनी-अपनी यथार्थ प्राचीन शिक्षा को प्राप्त कर दबाने या दबनेवाले अपर भावों को त्यागकर आपस में मैत्री स्थापित करके एक-दूसरे के उत्कर्ष को समझने की चेष्टा करें, तो दोनों के लिए उन्नति का रुका हुआ रास्ता निस्सन्देह खुल जायेगा।

❑ ❑ ❑